# भूमिका

भारतीय हिन्दी सिनेमा में देश विभाजन से पहले तथा उसके बाद जो फिल्म बनी, समय व समाज के साथ-साथ उन फिल्मों के कहानी मे भी परिवर्तन आता गया।देश विभाजन से पहले के मुगलकाल की पृष्ठभूमि पर आधारित कई फिल्मों का निर्माण किया गया समान्यतः उस काल मे वैभव से ज्यादा त्याग, बलिदान, न्याय, प्रेम और सौहार्द को बड़ी सफलता से दर्शाया गया है। कुछ फिल्में संगीत पर बनी, कुछ प्रेम प्रधान फिल्में बनी जिनमें मुगल-ए-आज़म जैसी फिल्मों का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इस तरह के फिल्मों को अपार लोकप्रियता मिलना हिन्दी सिनेमा के दर्शकों की कलात्मक रुचि तथा उसके सौंदर्य पक्ष को दिखाता है, इन फिल्मों में तमाम पहलुओ के अलावा जो मुख्य विषय होता, वह अभिजात्य तथा सामान्य जन के बीच का संघर्ष एवं द्वंद होता

मुस्लिम समाज के ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर हर दौर मे फिल्में बनीं लेकिन अधिकतर जो फिल्में बनी वे मुस्लिम समाज के उच्च वर्ग से जुड़ी रही।कुछ फिल्मों में निम्न वर्ग तथा मध्यवर्ग को भी फिल्मों का विषय बनाया गया जिनमें पाकीज़ा [1971] उमराव जान [1981] अंजुमन [1986] काबुलीवाला आदि का नाम प्रमुखतः से लिया जाता है, इन फिल्मों मे जो पात्र आते हैं वो हिन्दू- मुस्लिम की समस्या पर कम समाज की समस्या पर अधिक आधारित होते थे।

विभाजन की इसी त्रासदी पर हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, बंगला और दूसरी कई भाषाओं में कवितायें, कहानियाँ, उपन्यास और नाटक लिखे गए, कई भुक्तभोगियों ने संस्मरण भी लिखे और विभिन्न क्षेत्रों मे विद्वानों ने विभाजन को त्रासदी की तरह से व्याख्यायित किया लेकिन

आश्चर्य की बात है कि हिंदुस्तान तथा पाकिस्तान और बाद के बनने वाले बांग्लादेश के फ़िल्मकारों ने विभाजन के चार दशक तक मुश्किल से दो चार फिल्में बनाई। 1980 के बाद जब भारत और बांग्लादेश में धार्मिक तत्ववादियों और सांप्रदायिक उग्रवादियों का असर बढ़नें लगा तो फ़िल्मकारों के लिए भी हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों कि उपेक्षा करना संभव नहीं रहा। उन्होने इतिहास में विशेष रूप से विभाजन को समझने का प्रयास किया। इस उपमहाद्वीप के लोगों पर इसके परिणाम की समीक्षा करना आवश्यक समझा, उन्हे यह जरूरी लगा कि वे भारतीय उपमहाद्वीप के सामने मौजूद चुनौतियों के संदर्भ मे भारत विभाजन की त्रासदी और हिन्दू- मुस्लिम सम्बन्धों की समीक्षा करें।

सही मायनों मे देश देश विभाजन पर किसी गंभीर मुद्दे को लेकर कोई फिल्म नहीं बनी| 1973 मे एम० एस० सथ्यू कि फिल्म 'गरम हवा' आई। इस फिल्म में विभाजन के दौरान जो मुस्लिम भारत मे रह गए या रुक गए थे, उनके अस्तित्व पर ही संकट खड़ा हो गया॥इस फिल्म ने इनको मानवीय धरातल पर खड़ा किया। यह फिल्म सामाजिक सरोकारों से जुड़ते हुए राजनीतिक परिदृश्य का विश्लेषण करती है कि कैसे अपने देश पर विश्वास करने वाले सच्चे भारतीय मुसलमान को बेबसी के दिन देखने पड़े तथा किस तरह से उसके स्वाभिमान आहत हुए। ये फिल्म समाज के समक्ष प्रश्न खड़ा करती है कि आजादी के बाद भारत में मुसलमान किस तरह अपनी ही धरती पर बेगाने हो गए, उनके तरक्की के रास्ते सिकुड़ गए और उनकी देशभक्ति शक के दायरे मे आ गयी, इसका मर्मस्पर्शी फिल्मांकन इस फिल्म मे किया गया है।

हिंदुस्तान में सिनेमा के विकास के आरंभिक दौर से ही विभिन्न जाति और धर्म के लोग उसी तरह मिल कर रहे, जिस तरह जीवन के दूसरे क्षेत्रों में उन्हे देखा जा सकता है। सिनेमा

जैसे लोकप्रिय माध्यम मे विभिन्न धर्मावलम्बियों का यह सामूहिक योगदान उनकी फिल्मों के कथानक मे भी व्यक्त हुए बिना नहीं रह सकता। हिन्दी फिल्मे कई अर्थों मे मिली-जुली संस्कृति की वाहक रही हैं। यदि हिन्दी का सिनेमा हिन्दुत्व की ताकतों के एक राष्ट्र, एक भाषा और एक संस्कृति के सिद्धान्त पर चलता तो न तो उसे वह लोकप्रियता मिलती,और न ही इन ताकतों के चुनौतियों से लड़ने में इन फिल्मों का योगदान होता। हिन्दी फिल्मों ने भारत कि जनता को एक बनाए रखने मे कितना योगदान दिया है इसका अब तक ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं किया गया है। यह आकस्मिक नहीं हैं कि पूरी तरह से मुस्लिम पृष्ठभूमि पर बनी फिल्मों ने सफलता के जबर्दस्त रिकार्ड बनाए हैं। आज़ादी से पहली बनी 'पुकार' (1939) 'हुमायूँ' (1945) मुगल-ए-आजम (1960) चौदहवीं का चाँद (1960) आदि का नाम प्रमुखता से आता है।

1980 से पूर्व की बहुत कम फिल्में ऐसी हैं, जिसमे मुख्य पात्र हिन्दू हों और उसमें मुस्लिम चरित्र भी उसी मूल कथानक का हिस्सा हों। नब्बे के दशक से फिल्में इस विषय पर जिनमें हिन्दू और मुसलमान के परस्परिक संबंधो को ही फिल्म की कहानी का विषय बनाया गया है, इस दशक में बढ़ती सांप्रदायिकता और आतंकवाद हैं। यहाँ इस विषय को विशेष रूप से देखा जाना चाहिए कि इस तरह कि फिल्मे 1947 के आस पास के दौर मे भी नहीं बनी, क्या इसका अर्थ ये लगाया जाय कि धर्म के आधार पर देश के दो टुकड़े होने के बावजूद हिन्दू और मुस्लिम समाज मे उतनी गहरी खाई नहीं पैदा कि थी जितनी कि वह आज दिखाई दे रही है। या हो सकता हो इस विषय पर निर्माता धन न लगाना चाहता हो क्योकि ये विषय तो संवेदनशील हैं ही तथा इस तरह के विषय पर सेंसर बोर्ड की भी पैनी नज़र रहती है। आज के फ़िल्मकारों में जो साहस दिखाई देता हैं उस समय के फ़िल्मकारों मे नहीं दिखता। 'सलीम लँगड़े पे मत रो'जैसी यथार्थपरक फिल्में अभी तक बहुत कम बनी। निम्न मध्यवर्गीय मुसलमानों को बंबई

जैसे महानगरों में एक तरफ अन्य लोगो कि तरह गरीबी, बेरोजगारी का सामना करना पड़ता है तो दूसरी तरफ मुसलमान होने के कारण सांप्रदायिक भेदभाव और उत्पीड़न का भी सामना करना पड़ता है। गरीबी और सांप्रदायिकता के पाटों के बीच मुस्लिम समाज किस तरह जी रहा है इसे फिल्म ने अपना विषय बनाया है।

उपरोक्त के आधार पर निम्नलिखित अध्यायीकरण किया गया हैं। प्रथम अध्याय में भारत विभाजन की त्रासदी तथा हिन्दू- मुस्लिम संबंध को सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक संदर्भों को उठाया गया है। विभाजन के समय इन तीनों स्थितियों को उस समय के तत्कालीन समय में देखने का प्रयास किया गया हैं। यह भी देखने कि कोशिश कि गयी है कि सांप्रदायिकता का उदय व विकास किस तरह से निरंतर रूप मे आगे बढ़ा है।

दूसरे अध्याय में हिन्दू मुस्लिम परिप्रेक्ष्य को लेकर हिन्दी सिनेमा मे सांप्रदायिकता के यथार्थ को फिल्म के विषय के रूप मे उठाया गया हैं तथा हिन्दी सिनेमा के कुछ महत्वपूर्ण फिल्मों मे स्त्री कि भूमिका का विश्लेषण किया गया है तथा मानवता से बढ़ कर मजहब, मुस्लिम विरोधी सामाजिक वातावरण, मुसलमानों मे असुरक्षा की भावना, सामंती प्रवत्ति का टूटता ढांचा आदि कईविषयों पर यथासंभव प्रयास किया गया हैं।

तीसरे अध्याय, में हिन्दी सिनेमा में भारत विभाजन की त्रासदी तथा हिन्दू मुस्लिम संबंध के संदर्भ मे विभाजन के बाद बनी फिल्मों के विचारधारा की पड़ताल की गयी है तथा कुछ महत्वपूर्ण फिल्मों को स्थान दिया गया हैं। जैसे 'गरम हवा', 'तमस', 'पिंजर', 'खामोश पानी'। इन सभी फिल्मों के कहानी कहने का तरीका अलग हो सकता हैं लेकिन इसके मूल में सांप्रदायिकता तथा हिन्दू मुस्लिम संबंध रहा है। फिल्म 'गरम हवा' में विस्थापन की पीड़ा किस तरह मनुष्य के अस्तित्व को हिला कर रख देती है फिल्म मे इसका प्रतीक हैं 'दादी

अम्मा'।फिल्म 'तमस' का व्यंग और उसकी विडम्बना अधिक गहरी है, फिल्म देश विभाजन की त्रासदी को और कट्टरपंथीयो द्वारा सांप्रदायिक वातावरण निर्माण को दिखाती है।

फिल्म 'पिंजर' में पंजाब की ग्रामीण पृष्ठिभूमि को दिखाया गया है, पंजाब विभाजन का सबसे पहला और सबसे बुरा शिकार बना। फिल्म में प्रदेश के काले-सफ़ेद दोनों पक्षों को चिन्हित किया गया हैं। फिल्म की नायिका के परिवार वाले उसको अमृतसर से लेकर अपने गाँव आता हैं इसी गाँव के पड़ोस मे रहने वाला एक मुस्लिम युवक उसे उठा कर ले जाता हैं इसका इस खानदान से पुश्तैनी दुश्मनी हैं। इस तरह इस फिल्म कि कहानी आगे बढ़ती है। फ़िल्मकार सबीहा समर की फिल्म 'खामोश पानी' एक हिन्दू औरत की कहानी है, जिसे बँटवारे ने ऐसे घाव दिये कि वह हमेशा-हमेशा के लिए अपनी पहचान खो बैठी है। फिल्म पिंजर तथा खामोश पानी मे काफी समानताए हैं,दोनों ही फिल्मों मे स्त्री की विडम्बना है, विभाजन के समय त्यागी हुई औरतों के सामने यही रास्ता बचा था कि या तो वह ख़ुदकुशी करके अपनी जान दे दे या उन लोगो के घरो में ही पनाह ले ले जिनके हाथों वे अपमानित हुई।

लघु शोध प्रबंध कि सीमा मे सभी फिल्मों पर विस्तृत विचार विश्लेषण करना संभव न होने के कारण विभाजन की त्रासदी तथा हिन्दू मुस्लिम संबंध को बहुआयामी तथा बहुकोणीय दृष्टि से गहराई से दर्शाने वाली मुख्यतः चार फिल्मों को उठाया गया हैं- गरम हवा, तमस, पिंजर, और खामोश पानी को व्याख्या तथा विश्लेषण का विषय बनाया गया है।

या लघु शोध प्रबंध एक अंतरानुशासनिक विषय से संबद्द है एक तरफ अपनी प्रखर अभिव्यक्ति क्षमता और तकनीकी कुशलता के साथ साथ हिन्दी सिनेमा है तो दूसरी तरफ

विभाजन की त्रासदी जो इस विषय को एक व्यापक फ़लक देता है। विषय की गंभीरता बनी रहे इस लिए चयनित फिल्मों पर विशेष बल दिया गया है।

इस लघु शोध प्रबंध को आकार देने, इस स्वरूप में प्रस्तुत करने में मेरे निर्देशक प्रो॰ सुरेश शर्मा का स्नेहिल मार्गदर्शन प्राप्त हुआ जिससे मुझे समुचित दिशा मिल सकी अतः उनके प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ, तथा सहायक प्रो॰ विधु दास खरे का भी आभार जिनसे समय-समय पर सहयोग प्राप्त हुआ। इस लघु शोध प्रबंध को इस रूप में लाने में मेरे जिन मित्रो का भी सहयोग रहा उनके प्रति भी बहुत -बहुत आभार जिनके सहयोग के बिना यह लघु शोध प्रबंध शायद पूर्ण ना हो पाता.....।

## अध्याय- एक

# भारत विभाजन की त्रासदी तथा हिन्दू-मुस्लिम संबंध

## सांप्रदायिकता का उदय व विकास –

### 1. सामाजिक संदर्भ :

सांप्रदायिकता या सांप्रदयिक विचार धारा के तीन तत्व व चरण होते हैं।और उसमें एक तारतम्यता होती है। इस क्रम में सबसे पहला स्थान इस विश्वास का है कि एक धर्म मानने वालो के सांसरिक हित यानि राजनीति, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित भी एक जैसे होते हैं। सांप्रदायिक विचारधारा के उदय का यह पहला आधार है इसी से धर्म पर आधारित सामाजिक – राजनैतिक समुदायों कि धारणा का जन्म होता है वर्गों, जातीय समूहों, भाषाई – सांस्कृतिक जमायतों राष्ट्रों या प्रांतों और राज्यों जैसी राजनीतिक क्षेत्रीय इकाइयों के स्थान पर धर्म पर आधारित इन समुदायों को ही भारतीय समाज कि बुनियादी इकाइयों के रूप में देखा जाने लगता है। ऐसा मान लिया जाता है कि भारतीय जनता धर्म पर आधारित समुदायों के सदस्यों के रूप में ही अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन का संचालन कर सकती है तथा अपने समूहिक यानि गैर – व्यक्तिगत हितों की सुरक्षा कर सकती है। इन विभिन्न समुदायों के अपने अलग-अलग नेता होते हैं जो अपने राष्ट्रीय क्षेत्रीय या किसी खास वर्ग का नेता बतलाते हैं। उनके बारे में माना जाता है कि ऐसा कहकर वे सिर्फ ढोंग करते हैं। दरअसल तो वे महज अपने

समुदाय के नेता होते हैं उनसे ज्यादा से ज्यादा उम्मीद यही कि जा सकती है कि वे सांप्रदायिक नेताओं के रूप एकताबद्ध हो और इस तरह राष्ट्र या देश कि बड़ी इकाई की सेवा करें।

सांप्रदायिक विचारधारा का दूसरा तथ्य यह विश्वास है कि बहुभाषी समाज में एक धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हित यानि सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक और राजनीतिक हित अन्य किसी धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हितों से भिन्न है।

माना जाता है कि सांप्रदायिकता अपने तीसरे चरण में तब प्रवेश करती है जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धर्मो के अनुयायियों या समुदायों के हित एक दूसरे के विरोधी। इस चरण में आकार सांप्रदायिक व्यक्ति ज़ोर देकर यह कहने लगता है कि हिंदुओं और मुसलमानों के सांसरिक हित एक हो ही नहीं सकते, उनमें परस्पर विरोध होना ही है।

अतः बुनियादी रूप से सांप्रदायिकता ही वह विचारधारा है जिसके आधार पर सांप्रदायिक राजनीति खड़ी होती है सांप्रदायिक विचारधारा का ही एक स्वाभाविक नतीजा है। इसी तरह हिन्दू – मुसलमान,सिक्ख, ईसाई सांप्रदीकताएँ एक दूसरे से जुदा नहीं हैं। वे एक ही वृक्ष कि विभिन्न शाखाएँ हैं। ऊपर से भले ही अलग – अलग दिखती हो पर उनके मूल में एक ही तरह की सांप्रदायिक विचारधारा काम करती रहती हैं।

किसी भी व्यक्ति, दल या आंदोलन में सांप्रदायिक विचारधारा का जन्म पहले चरण से होता है बहुत से जातीय समूह इसके शिकार हो जाते हैं यद्यपि वे सांप्रदायिकता के अन्य दो तत्वों को स्वीकार नहीं करते यानि वह यह नहीं मानते हैं कि धर्म पर

आधारित विभिन्न समुदायों के हित अनिवार्य रूप से एक दूसरे के विरोधी हैं। ये वही लोग जिन्होंने अपने को सिर्फ राष्ट्रियतावादी कहने के वजाय राष्ट्रीयवादी हिन्दू, राष्ट्रीयवादी मुस्लिम या राष्ट्रीयवादी सिक्ख के रूप में देखा।

सांप्रदायिकता का तीसरा चरण या अंतिम चरण उपस्थित हुआ उग्रवादी सांप्रदायिकता यानि ऐसी सांप्रदायिकता जिसके तौर-तरीके फ़ांसीवादी होते हैं। उग्रवादी सांप्रदायिकता के मूल में भय या घृणा थी तथा भाषा, कर्म एवं आचरण के स्तर पर उसका मिजाज हिंसक था। अपने राजनीतिक विरोधिओं को यह अपना दुश्मन मानता था तथा उसके खिलाफ वह युद्ध की भाषा बोलती थी इसी चरण में आने के बाद सांप्रदायिकतावादियों ने घोषणा करनी शुरू की कि मुसलमान, मुस्लिम संस्कृति और इस्लाम तथा हिन्दू धर्म और उसकी संस्कृति के अस्तित्व पर खतरा है साथ ही, मुस्लिम एवं हिन्दी सांप्रदायिकतावादियों ने यह सिद्धान्त पेश करना शुरू किया कि मुसलमान और हिन्दू के अलग –अलग राष्ट्र हैं तथा उनके बीच ऐसा स्थायी द्वंद है, जिसे कभी भी समाहित नहीं किया जा सकता है।

1937 के बाद मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ शुरू से ही इस उग्रवादी या फ़ांसीवादी सांप्रदायिकता कि ओर बढ़ रहे थे। हालांकि सांप्रदायिकता के तीनों दौर अलग-अलग वक्त पर आए, लेकिन वे एक दूसरे को प्रभावित करते रहे और उनमें एक तरह कि निरंतरता भी बनी रही पहले चरण सांप्रदायिकता ने उदारवादियों और उग्रवादी सांप्रदायिकता को मजबूत किया तथा उनके खिलाफ संघर्ष चलाना कठिन कर दिया। इसी तरह उदारवादी सांप्रदायिकता उग्रवादी सांप्रदायिकता के विचारात्मक विकास को रोक नहीं सकी।

**सांप्रदायिक यथार्थ –**

जब कोई सांप्रदायिकता अपने समुदाय के हितों कि रक्षा करता था या उसमें निष्ठा रखता था तो वास्तविक जीवन में ये हित धर्म के दायरे के बाहर नहीं होते थे। सच्चाई तो यह है कि हिंदुओं, मुसलमानों तथा अन्य समुदायों के आर्थिक – राजनीतिक हित एक ही थे और उस स्तर पर उनके बीच कोई समुदाय विभाजन नहीं किया जा सकता है, हिन्दू या मुसलमान के रूप में राष्ट्रीय स्तर पर या क्षेत्रीय स्तर पर भी उनक कोई अलग – अलग राजनीतिक-आर्थिक जीवन नहीं था।क्षेत्र, भाषा, संस्कृति, वर्ग, जाति,सामाजिक हैसियत, सामाजिक परंपरा खान-पान और पहनावा इन सभी मामलों में हिंदुओं और मुसलमानों में कोई सामुदायिक एकता नहीं थी , बल्कि अनेक दृष्टियों से बहुत से हिन्दू और बहुत से मुसलमान एक दूसरे से नजदीक थे। जहां तक उच्चवर्गीय मुसलमानों का सवाल है, उनका जीवन सांस्कृतिक दृष्टि से भी गरीब मुसलमानों के बजाय उच्चवर्गीय हिन्दू के ज्यादा करीब था।

इसी तरह सांस्कृतिक स्तर पर पंजाबी हिन्दू किसी बंगाली हिन्दू की तुलना में पंजाबी मुसलमान के ज्यादा गरीब था जैसे बंगाली मुसलमान पंजाबी मुसलमान की तुलना में बंगाली हिन्दू के ज्यादा निकट था। इस तरह जाहिर है कि भारतीय जनता का सांप्रदायिक विभाजन अवास्तविक था और इसका उद्देश्य वास्तविक विभाजन यानि विभिन्न भाषाई – सांस्कृतिक अंचलों तथा सामाजिक वर्गों के अस्तित्व तथा एक राष्ट्र के रूप में विकसित हो रही वास्तविक एकता के इर्द गिर्द धुंध पैदा करना था

यदि सांप्रदायिक हित का सचमुच कोई वजूद नहीं था, तो सांप्रदायिकता भी सामाजिक यथार्थ की कोई आंशिक, एकपक्षीय या वर्गीय समझ नहीं थी, बल्कि वह चीजों को गलत या अवैज्ञानिक दृष्टि से देखने कि कोशिश थी।कभी-कभी यह कहा जा सकता है कि सांप्रदायिक व्यक्ति का नजरिया चूंकि संकीर्ण होता है अतः वह सिर्फ अपने समुदाय के हितों के बारे में ही सोचता है। लेकिन अगर ऐसे हित होते ही न हो, तो वह समुदाय या सह- धर्मावलंबीयों के हितों कि रक्षा कैसे कर सकता है? वह अपने तथाकथित समुदाय का प्रतिनिधि नहीं हो सकता था। समुदाय के हितों की रक्षा के नाम पर वह जाने या अनजाने कुछ दूसरे ही हितो की रक्षा कर रहा था। इस प्रकार वह तो दूसरों के साथ छल कर रहा था या अचेतन रूप से आत्मछल का शिकार था। सांप्रदायिक मान्यताएँ सांप्रदायिक तर्क प्राणली और सांप्रदायिक समाधान झ सबक कोई वास्तविक आधार था ही नहीं। सांप्रदायिकतावादी जिन चीजों को समस्याओं के रूप में पेश कर रहे थे, वे वास्तविक समस्याएँ नहीं थी और न वे समाधान ही वास्तविक समाधान थे जिन्हें वे समाधान कहकर पेश कर रहे थे। संप्रदायिकतावादी न केवल गलत समाधान देता था, बल्कि गलत सवाल भी उठाता था।

कभी कभी यह कहा जाता है कि सांप्रदायिकता तो अतीत कि एक विरासत है लेकिन सच्चाई यह है कि सांप्रदायिकता प्राचीन और मध्ययुगीन विचारधाराओं का इस्तेमाल जरूर करती है उन पर आधारित भी होती है लेकिन मूलतः यह एक आधुनिक विचारधारा और राजनीतिक प्रवृत्ति थीं, जो आधुनिक सामाजिक समूहों, वर्गों और ताकतों की सामाजिक आकांक्षाओं को व्यक्त करती थी और उनकी राजनीतिक जरूरतों को पूरा करती थी। इसकी सामाजिक जड़ों तथा इसके सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक लक्ष्यों को भारतीय इतिहास के आधुनिक काल में खोजा

जा सकता है। समकालीन सामाजिक-आर्थिक ढांचे ने न केवल इसे पैदा किया बल्कि पुष्पित – पल्लवित भी किया।

2 **राजनैतिक संदर्भ** – अंततः भारत प्रायद्वीप को स्वतन्त्रता मिल ही गयी।15 अगस्त 1947 को भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का अंत हो गया तथा भारतीय स्वतन्त्रता का आरंभ हुआ 14-15 अगस्त की मध्य रात्रि को संविधान सभा का एक विशेष समारोह हुआ जिसमें पंडित नेहरू ने एक भावपूर्ण ऐतिहासिक भाषण दिए जिसमें उन्होने "भारत के दुर्भाग्य का अंत" की घोषणा की और आशा व्यक्त की कि अब भारत पुनः अपने व्यक्तित्व को प्राप्त कर सकेगा और उन्होने कहा था कि "बहुत वर्ष पहले हमने अपने 'नियत से नियत' स्थान पर मिलने का प्रण किया था। आज वह समय आ गया है कि हम अपना वचन पूरा करें, संभवतः पूर्ण रुपेण तो नहीं परंतु पर्याप्त मात्रा में। आज मध्य रात्री के समय जब सारा संसार सो रहा होगा, भारत एक नए जीवन तथा स्वतंत्रता का आहवाहन कर जागेगा , इतिहास में ये क्षण कभी-कभी आते हैं जब व्यक्ति प्राचीन स्थितियों को छोड़कर नवीन परिस्थिति में चरण रखता है। जब एक युग समाप्त होता है और एक देश कि आत्मा को जो चिर काल तक रौंदी जाती रही हो बोलने का अवसर न मिलता हो। आओ, इस महत्वपूर्ण अवसर पर हम लोग मिलकर अपने देश तथा उसकी जनता तथा मानवता की सेवा करने का प्रयास करें।"

आजादी एक लंबे गौरवपूर्ण संघर्ष के बाद हासिल की गई थी और इसने करोड़ों लोगों का सपना पूरा हुआ था लेकिन इसके साथ ही एक खूनी त्रासद विभाजन ने हमारे उदीयमान स्वतंत्र राष्ट्र के ताने –बाने को छिन्न -

भिन्न कर दिया।विभाजन सदियों पुराने हिन्दू - मुस्लिम वैमनस्य का दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम था, इस बात का सबूत यह है कि ये दोनों समुदाय आपस में तय नहीं कर पाए कि सत्ता किसे सौपी जाए और कैसे ?

15 अगस्त 1947 को रात बारह बजे जब भारत अंग्रेजी दासता से मुक्त हो रहा था, ठीक उसी समय देश के भी दो टुकड़े किए जा रहे थे। मुस्लिम बहुल पाकिस्तान और हिन्दू बहुल हिंदुस्तान लेकिन विभाजन की कहानी सिर्फ कागजों तक सिमटी नहीं थी।भारत से मुसलमानों का और पाकिस्तान से हिंदुओं और सिखों का बड़ी संख्या में पलायन शुरू हुआ। दोनों भागों में बड़े पैमाने पर दंगे हुए इसमें लाखों लोग मारे गए। दोनों ओर से विस्थापित और वेघर होने वाले लोगों की संख्या डेढ़ करोड़ थी जिनमें से 78 फीसदी लोग पश्चिम की तरफ से आए हुए थे। भारत की ओर से 53 लाख मुसलमान विस्थापित होकर पश्चिम पंजाब पहुंचे थे और पाकिस्तान की ओर 53 लाख मुसलमान विस्थापित होकर पश्चिमी पंजाब पहुंचे थे। पाकिस्तान की ओर से 34 लाख हिन्दू और सीख विस्थापित होकर पूर्वी पंजाब पहुंचे थे लगभग12-12 लाख लोग सीख प्रांत के दोनों तरफ से विस्थापित हुए थे।अनुमान किया जाता है कि लगभग 5 लाख हिन्दू, मुसलमान और सिंध विभाजन के समय हुए दंगों और कत्लेआम में दोनों तरफ मारे गए थे।

इतनी बड़ी संख्या में विस्थापन को यह विश्व इतिहास की सबसे बड़ी घटना थी। हजारों की संख्या में स्त्रियाँ तौहीन की गईं सैकड़ों ने अपनी इज्जत बचाने के लिए खुदखुशी कर ली , तो काइयों ने खुद उनके घर वालों ने मार डाला। यह भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास का सबसे कलंकित अध्याय है।

16 अगस्त 1946 से अभूतपूर्व स्तर पर होने वाले सांप्रदायिक दंगों ने भारतीय परिदृश्य को पूरी तरह बदल दिया था। दंगों का आरंभ 16-19 अगस्त कलकत्ता से हुआ जो सितंबर को बंबई को प्रभाक्ति कराते हुए पूर्वी बंगाल के नोआखली विहार, संयुक्त प्रांत के गढ़मुक्तेस्वर तक फैल गए और मार्च 1947 से इन्होने सारे पंजाब को अपनी लपेट में ले लिया।| जहां भड़की हुई सांप्रदायिक भावनाएँ सर्वत्र इन दंगों की सामान्य बातें थीं, वहीं विभिन्न स्थानों पर इन दंगों के स्वरूप विस्तार या तात्कालिक उत्तरदायित्व के सवाल पर महत्वपूर्ण अंतर देखने को मिलता था॥ कलकत्ता में लीग की सरकार भी और उसने सीधी कार्यवाही के दिन छुट्टी घोषित कर दी थी। "वहाँ मैदान में होने वाली सभा में मुख्यमंत्री सुहरावर्दी के यह आश्वासन देने के बाद कि पुलिस और सेना हस्तक्षेप नहीं करेगी मुसलमानों ने हमले शुरू कर दिए सुहरावर्दी ने लाल बाजार के नियंत्रण-कक्ष में पर्याप्त समय बिताया। जिसमें प्रायः उनके समर्थक उनके साथ रहे थे और उन्होने उन दुखों के प्रति क्षोभकारी व्यग्रता दिखाई जो उनके संप्रदाय के लोगों ने भोगे थे।|"

हिन्दू और विशेष रूप से सिक्ख दादाओं ने प्रत्याक्रमण किया जो शीघ्र ही "कलकत्ता के अपराध जगत कि दो प्रतिस्पर्धी सेनाओं के बीच समूहिक कत्ल में परिणत हो गया।" 19 अगस्त तक कम से कम 4,000 लोग मारे गए थे और 10,000 घायल हुए थे। सड़कों पर सढती हुईं लाशों को हटाने की विकट समस्या हो गई थी। पहले होने वाले सांप्रदायिक दंगों में मंदिरों और मस्जिदों को अपवित्र किया जाता था तथा बलात्कार या विरोधी संप्रदाय के संपन्न लोगों की संपत्ति पर आक्रमण की घटनाएँ होती थीं। किन्तु इस बार कलकत्ता के दंगों में हत्या ही मुख्य लक्ष्य थी। इसमें

मरने वाले हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमान  अधिक थे। इसे न केवल 'वेवेल' बल्कि 'सरदार पटेल' ने स्वीकार किया था।

25 अक्तूबर को "नोआखली दिवस" मनाए जाने के सिलसिले में बिहार में जो दंगे हुए उनमें एक दूसरा ही ढर्रा देखने को मिलता है, जिसे समझना इतना सरल नहीं है। मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दू किसानों का सामूहिक विद्रोह जिसके फलस्वरूप होने वाला नरसंहार नोआखलीसे कहीं अधिक भयंकर था इसमें कम से कम 7,000 लोग मारे गए थे। नाराज नेहरू ने रिपोर्ट दी कि जो विहार कांग्रेस (और किसान सभा का भी) गढ़ रहा था वहाँ लोगों पर पागलपन सवार है।" जब नेहरू ने उस प्रांत का दौरा किया तो उन्हे आदिवासी प्रदर्शनों का सामना करना पड़ा।इस बीच हिन्दू – मुसलमान और सिक्ख समान रूप में उस घटना के लिए तैयार हो गए थे जो सबसे बड़ी विनाशलीला। लाहौर,अमृतसर, मुल्तान, अटक़ और रावलपिंडी तथा अंतिम के तीन जिलों के ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर दंगे हुए इन मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में हिंसा का मुख्य लक्ष्य सिक्ख और हिन्दू व्यापारी और साहूकार थे। अगस्त 1947 तक 5,000 लोग मारे गए। किन्तु यह नरसंहार भी उस सर्वनाशी युद्ध के सामने कुछ नहीं था।  जो स्वतन्त्रता के बाद सीमा के दोनों ओर आरंभ हुआ, जिसके दौरान कभी पूरी कि पूरी रेलगाड़ी लाशों से भरी आती थीं। पेडरेल मून कि लगभग 1,80,000 लोग मारे गए थे जिसमें 60,000 पश्चिम के और 1,20,000 पूर्व के थे मार्च 1948 तक 60 लाख मुसलमान और 45 लाख हिन्दू एवं सिक्खशरणार्थी बन चुके थे।

जनसंख्या का लगभग पूर्ण और बलात स्थानांतरण हो गया, जिसमें लोग 47 लाख एकड़ भूमि पूर्वी पंजाब में और67 लाख एकड़ भूमि पश्चिम में पीछे छोड़ आए

कुल मिलकर "मुसलमान को जान का नुकसान अधिक हुआ था और हिंदुओं और सिक्खों को माल का।" द पश्चिम पंजाब के वहावलपुर में जहां 1947 में मून कार्य कर रहे थे, "मुसलमानों (मुख्यतः किसानों को रुचि मारकाट में नहीं थी जितनी हिंदुओं कि लड़कियों और संपत्ति का चुपचाप भोग करने में)" मध्य और पूर्वी पंजाब में जहां दोनों समुदाय बराबरी पर थे, खत्म करने कि नीति अधिक महत्वपूर्ण थी। विशेष रूप से सिक्ख मुसलमानों को खत्म करने या उन्हें खदेड़ बाहर करने के लिए कृत – संकल्प थे, ताकि पश्चिम से आने वाले 20 लाख सिखों के लिए जमीन मुहैया कराई जा सके।

न्यूयार्क टाइम्स के अनुभवी संवादता रावर्ट ट्रमबुल ने लिखा– मेरा दिल कभी भी चीज को देखकर इतना नहीं दहला, तरावा के समुद्री तट पर लाशों का ढेर देखकर भी नहीं। आज हिंदुस्तान में जितनी बार पानी बरसता है उससे ज्यादा बार खून बहा है। मैंने सैकड़ों लोगों की लाशों को देखा है, और सबसे निर्मम दृश्य मैंने हजारों हिन्दुस्तानियो का देखा जिनकी आँखें निकाल ली गईं थीं या हाथ पाँव काट दिए गए ये गोली मारकर किसी की हत्या कर देना तो बहुत रहम की बात समझी जाती है और यह बहुत कम होता था। आम तौर पर मर्दों – औरतों और बच्चों को डंडों और पत्थरों से बुरी तरह से घायल करके मरने के लिए छोड़ दिया जाता था। गरमी और मक्खियों की वजह से उनकी मृत्यु की पीड़ा और बढ़ जाती थी। ऐसा लगता था, दोनों तरफ से होड लगी हुई थी कि कौन ज्यादा बर्बाद दिखा सकता है। पंजाब सीमा सेना दल के एक अफसर ने देखा कि 'एक गाँव में जिस पर सिक्खों ने हमला किया था चार मुसलमान बच्चों को लोहे की सलाई से वींधकर छोटे -छोटे सुअरों की तरह भुना गया। एक दूसरे अफसर ने देखा कि कुछ सिरफिरे मुसलमानों ने हिंदू औरतों की एक

टोली को कत्ल करने के लिए ले जाने से पहले उनके स्तन को बुरी तरह क्षत – विक्षत कर दिया गया था।

दस लाख लोग उनकी राह देख रहे थे इस खूनी पखवाड़े के दौरान जब पंजाब के सिर पर खून सवार था, शाम को गांधी की प्रार्थना – सभा में आने वाले लोगों की संख्या दिन व दिन बढ़ती ही जा रही थी। इस आश्चर्यजनक ढंग से लगातार बढ़ती हुई उनकी इस संख्या ने इस निर्मोही महानगरी को अशांति और द्वेष के मरुस्थल के बीच शांति और भाई चारे का एक सुखद हारा – भरा स्थल बना दिया था संसार के सबसे अभागे शहर में रहने वाले लोगों ने प्रेम के उस दूत का संदेश सुना था और हिंसा तथा घृणा की अपनी सहज आकांक्षा पर काबू पा लिया था कलकत्ता का चमत्कार अभी तक कायम था जैसा कि न्यूयार्क टाइम्स ने लिखा, यह शहर भरत में एक अजूबा था।

गांधी ने अपनी सहज विनम्रता का परिचय देते हुए इसका श्रेय लेने से इंकार कर दिया। उन्होने अपने अखबार 'हरिजन' में लिखा, हम ईश्वर के हाथों के खिलौने से एक पत्र आया। जिसमें उन्हे भरपूर सम्मान दिया गया था। माउण्टबेटन ने अपनी 'उदास गौरैया' को लिखा था। 'पंजाब में हमारे पास 55,000 सिपाही है, फिर भी वहाँ बड़े पैमाने पर दंगे हो रहे हैं। बंगाल में हमारे सेना – दल में सिर्फ एक सिपाही है और वहाँ कोई दंगा नहीं हुआ।' एक सेना – नायक और भारत के अंतिम वाइसराय को हैसियत से उन्होने बड़े विनीत भाव से 'अपने एक सिपाही वाले सीमा सेना दल के प्रति श्रद्धांजली अर्पित करने की इजाजत मांगी।

गांधी अपनी पंजाब तक की यात्रा कभी पूरी नहीं कर पाए हिंसा के एक नए विस्फोट ने उन्हे बीच में ही रोक दिया। इस बार यह उन्माद उस सबसे बुनियादी केंद्र से फुटा

जहां से पूरे भारत पर शासन किया जाता था। विलुप्त ब्रिटिश राज की गौरवशाली और बनावटी राजधानी नई दिल्ली में आग भड़क उठी। जिस शहर ने इतने शान-शौकत और इतनी धूमधाम देखी थी, जहां दुनिया की सबसे बड़ी नौकर शाही का अड्डा था वह भी उस जहर से नहीं बच सका जो कलकत्ता की गरीब वस्तियों और लाहौर में फैला।

पंजाब की सरहद पर बसा हुआ दिल्ली शहर जो किसी जमाने में मुगलों का गढ़ था कई मायनों में अब भी एक मुस्लिम शहर था। यहाँ के ज़्यादातर खानसमा, तांगे वाले, फल व सब्जी वाले और दस्तकार मुसलमान थे। दंगों की वजह से आस-पास के देहात से हजारों मुसलमान पनाह और हिफाजत की तलाश में यहाँ की सड़कों पाए आ गए थे।शहर में बहुत बड़ी संख्या में लगातार आ रहे हिंदू और सिक्ख शरणार्थियों से सुनी अत्याचारों की भयानक कहानियों से उत्तेजित होकर और अपने नए राष्ट्र की राजधानी में बहुत से मुसलमानों की मौजूदगी पर गुस्से में आकर अकाली पंथ के सिक्खों आर.एस.एस.के सिरफिरे हिंदुओं ने 3 सितम्बर की सुबह जिस दिन गांधी ने कलकत्ता में अपना अनशन तोड़ा था दिल्ली में आतंक का दौर शुरू हो गया।

शुरुआत रेलवे स्टेशन पर दर्जन भर मुसलमान कुलियों के कत्ल से हुई। इसके कुछ ही मिनट बाद एक फ्रांसीसी पत्रकार मैंस ओलिवियर – लकांग नई दिल्ली के सबसे बड़े व्यापारिक केंद्र कनाट प्लेस में आया वहाँ उसने हिंदुओं की एक भीड़ को मुसलमानों की दुकानें लूटनें और उनके मालिकों का कत्ल करते देखा। इन सबके सिरों पर उसे सफ़ेद गांघी टोपी लगाए हुए एक जानी पहचानी सूरत दिखाई दी। वह आदमी लाठी घूमाकर दंगा करने वालों को मार रहा था, उन्हें डांट रहा था और अपने

इस आचरण से पीछे खड़े तमाशा देखते हुए दर्जन भर पुलिस वालों का उत्साह जगाने की कोशिश कर रहा था। यह आदमी भारत का प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू थे।

यह तो कभी मालूम ही नहीं हो सकेगा कि कुछ दिनो कि उस भयानक मुसीबत के दौरान कितनी जाने गईं। चारों ओर ऐसी गड़बड़ी मची हुई थी प्रांत का प्रशासन कुछ समय के लिए इतनी बुरी तरह ठप हो चुका था कि इस विभीषिका कि सही तस्वीर खींच सकना असंभव था। कोई हिसाब ही नहीं लग सकता कि कितने लोग सड़क के किनारे मरने के लिए छोड़ दिए गए थे, कुओं में फेंक दिए गए थे या अपने घरों या गांवों कि आग में जल मारे थे। जस्टिस जी.डी. खोसला ने जो इस विभीषिका का अध्ययन करने वाले सबसे प्रमुख हिंदुस्तानी हैं, अनुमान लगाया है कि 5 लाख जाने गईं होंगी। उस जमाने के दो प्रमुख अंग्रेज़ इतिहासकार ने पेड्रेल मून .जो उस जमाने में पाकिस्तान में नियुक्त थे और एच .वी.हाड़सन ने दो लाख और ढाई लाख लोगों के मारे जाने का अनुमान लगाया सर चंदू लाल द्विवेदी, जो पंजाब के पहले भारतीय गवर्नर जनरल और उस प्रांत की घटनाओं से गहरा संबंध रखने वाले अफसर थे 2,25,000 लोगों के जान से मारे जाने का अनुमान लगाया है।

वांटवारे के परिणामों से पीड़ित लाखों लोगों के फिर से बसने और अपने नए देश के जीवन में घुल – मिल जाने के लंबे और कष्टमय दिन अभी आने वाले थे। उन्होने आजादी की बहुत भारी कीमत चुकाई थी और आने वाले कई वर्षों तक इस कीमत की छाप उनके दिमाग पर बनी रही।

**सांस्कृतिक संदर्भ-**

भारतीय सिनेमा की यात्रा देश के औपनिवेशक काल से शुरू होती है। राजनीतिक दृष्टि से यह समय साम्राज्यवादी-औपनिवेशिक शासनकाल का था। भारत अंग्रेजों का परतंत्र था लेकिन इसके साथ ही एक दूसरा सामाजिक व राजनीतिक यथार्थ भी था। जिसे में ध्यान में रखना जरूरी हैं। जहां एक तरफ विदेशी शासन व्यवस्था थी वहीं दूसरी तरफ भारत में सामंतवादी व्यवस्था भी थी। ये दोनों सामान्तर व्यवस्थाएं भारतीय जनमानस को गहरे तक जकड़े हुए थी। सामंती व्यवस्था राज्यसत्ता या शासनव्यवस्था के रूप में ही जीवित नहीं थी बल्कि सामंतवादी मूल्यों के रूप में भी दूसरी एक सांस्कृतिक सत्ता भारतीय समाज के गतिशील थी। इस त्रिकोणीय व्यवस्थाओं से भारतीय समाज की मानस निर्मित हुई थी। इस पृष्ठभूमि में सिनेमा जैसे औद्योगिक और पूजींवादी काल के संचार माध्यम का आगमन भारत के लिए एक महान ऐतिहासिक घटना से कम नहीं था, लोक माध्यम और प्रिंट माध्यम के बाद सिनेमा माध्यम के जन्म ने भारतीय समाज के समक्ष अभिव्यक्ति के नए विकल्प को प्रस्तुत कर दिया था।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में दादासाहब  निर्मित मूक फिल्म 'हरिश्चन्द्र' ने जहां नई संचार क्रांन्ति की थी वही सामंती और औपनिवेशक भारत के आंतरिक जगत को वाह्य रूप से प्रस्फुटित होने का अवसर भी दिया था। क्या वजह है कि फाल्के साहब ने अपनी पहली फिल्म की कथावस्तु के रूप में एक मिथकीय आख्यान को चुना? कारण हरिश्चन्द्र-तारामती की कहानी पूर्णतः धार्मिक भी भारतीय मिथिकीय मन से गहरे तक जुड़ी हुई थी। हमें यहाँ  यह भी समझ लेना होगा कि भारत एक तरफ गहरे तक कृषि युगीन समाज था। कृषियुगीन समाज मूलतः भावनात्मक होता है और मिथिकीय आख्यानों में समाया हुआ होता हैं विदेशी

शासनव्यवस्था ने तत्कालीन भारत को केवल सतह तक प्रभावित किया था लेकिन भारतीय समाज का अंर्तजगत कमोबेस भावना प्रधान व मिथिकीय ही रहा। यह अकारण नहीं है कि बीसवी सदी के शुरूआती दशकों में धार्मिक फिल्मों का निर्माण अधिक होता है। हिंदी में ही नही, दक्षिण की भाषाओं और बंग्ला में भी धार्मिक फिल्में अधिक बनी। यहाँ तक सवाक फिल्मों में धार्मिक फिल्मों का निर्माण अधिक हुआ है।

इस दशक में फिल्मी माहौलल कुछ गंभीर होने लगा था लड़कपन तो काफी हद तक जो काफी पीछे छूट गया था। पौराणिकता के प्रति आकर्षण कम होने लगा था और फिल्में समकलीन समाज को संबोधित करने लगी थी। इस दौर में फिल्मी नायक को एक पुख्ता रूप देने में जिन गंभीर फिल्मकारों का नाम लिया जा सकता है। उसमें देविका रानी, महबूब खान, नितिन बोस, वी. शान्ताराम अभिय चक्रवर्ती, के. ए. अव्वास, केदार शर्मा, कमाल अमरोही और राजकपूर इत्यादि प्रमुख है। इनमें से कुछ फिल्माकार कहीं ने कही इटली में उभरे फिल्मी नवयथार्थवाद से प्रभावित थे। नव यथार्थवादी फिल्में समय की मांग थी। विश्व युद्ध से पीड़ित दुनिया, जिसमें बहुत गरीबी, वेरोजगारी और असमानता थी, वर्ग संघर्ष बढ़ गया था, आजादी की मांग बढ़ गयी थी, विज्ञान भी तेजी से तरक्की कर रहा था ऐसे में फिल्मों को ज्यादा समय तक समकालीन चेतना से बचाया नही जा सकता था। जैसे दुनिया में नवयथार्थवाद सिनेमा सशक्त होकर उभरा, वैसे ही भारत में भ ऐसे फिल्मकार होने लगे, जिनकी नजर केवल बाजार या टिकट खिड़की पर नहीं थी, जो समाज के बारे में भी निरंतर सोच रहे थे हालांकि लोगों में भी मुक्ति की चहात थी।

भारत की अगर बात करें, तो आजादी की चाहत इस दशक में शिखर पर थी, समस्याअें से स्वतंत्र होने और राहत पाने की इच्छा थी। यह दुनिया में अंग्रेजों की हार का

दशक था, भारतीय युवा विजेता के रूप में खड़ा हो चुका और भारतीय फिल्मी नायक भी विजेता के रूप में पहचान बनाने लगा था। फिल्में राह दिखाने की मुद्रा में आने लगी थी, जहां मनोरंजन करना उनका ध्येय होता था, वहीं उनमें यह प्रगतिशीलता भी गहरे बसने लगी थी कि लोगों और समाज की भी कुछ भला करना है, कोई न कोई अच्छा संदेश देना है। गांधीवादी, मार्क्सवादी या समाजवादी प्रभाव फिल्मों में स्पष्ट दिखने लगा था।

यही वही दशक है, जिसमें संगीत खुलकर रंग जमाने लगा था। यह महज संयोग नहीं है कि संगीत का आनंद और संगीत की मनमोहक लय तभी वनी} जब देश आजाद हुआ। आजाद हवा में गीत गाने व सुनने का आनंद बढ़ गया। देश 1947 में आजाद हुआ, तो मानों संगीत फिल्मी संगीत को कोठो और नाटकीयता के करीब पहुंच रही शास्त्रीयता से आजादी मिली। दो फिल्मों ने भारत में संगीत के व्याकरण को काफी हद तक बदल दिया और संगीत को सुगम-सुलभ सरस बना दिया। 1949 में राजकपूर की 'वरसात' रिलीज हुई थी। जिसमें शंकर जयकिशन ने कमाल कर दिया था। इसी वर्ष दूसरी संगीत प्रभावी फिल्म थी कमाल अमरोही की 'महल' जिसमें संगीतकार खेमचन्द्र प्रकाश ने भी संगीत को सुगम बनाने में योगदान दिया लता मंगेशकर के नेतृत्व में देश के ज्यादातर गायकों की आवाज भी आजाद हुई और नकल का नाक के प्रभाव से अपनी-अपनी मौलिक आवाज की ओर गायक बढ़े चले। वाकई मौलिकता ही शानदार निर्माण में कारगर होती है। देश में भी अनके मौलिक कार्य हो रहे थे। और फिल्मी दुनिया में भी अनेक मौलिक कार्य हो रहे थे। फिल्में पूरी तरह से देश का साथ देने लगी थी। पंडित नेहरू की नीति समाजवाद के निकट थी। तो ज्यादातर फिल्में भी समाजवादी प्रभाव के थी।

इस दशक में हम अगर कोई एक प्रतीक नायक खोजने की कोशिश करें तो थोड़ी मुश्किल होती है, लेकिन दिलीप कुमार को हम इस दशक का प्रतिनिधि नायक मान सकते है। वर्ष 1945-46 में नितिन बोस के निर्देशन में दिलीप कुमार की भूमिका वाली फिल्म 'मिलन' आई थी। बांबे टाकीज की यह फिल्म दिलीप कुमार की पहली हिट थी। इससे पहले दिलीप कुमार 'ज्वार भाटा' और 'प्रतिमा' फिल्म में काम कर चुके थे। लेकिन जब मिलन आई तो उसकी मैथड़ एक्टिंग को देखकर स्पष्ट हो गया कि न केवल भारतीय फिल्मों को एक वयस्क नायक मिल गया है। बल्कि अभिनय मे भी वयस्कता आ गई हैं। 'मिलन' के बाद दिलीप कुमार की इसी दशक में नौ फिल्में और आयी और वे प्रेमी समर्पित नायक के रूप में हर दिल अजीज हो गए।

**आजादी के बाद का दशक-**

1950 का दशक फिल्मकारों के दिमाग में भी देश और समाज के प्रति चिंतन हावी था। यह दशक आदर्श हैं यह महबूब खान, दिलीप कुमार, राजकपूर, विमलराय, ख्वाजा अहमद अब्बास, गुरूदत्त, चेतन आनंद-देव आनंद का चरम दौर। इसी दशक में सत्यजीत रे ने भी अपनी सजग चेतना से पूरे भारतीय चिंतन केा प्रभावित किया। और इस दौर में 'आवारा' जैसी बेहतरीन फिल्म आई मदर इंडिया और 'जागते रहो' जैसी फिल्म इसी दौर में बनी। 1955 में राजकपूर की फिलम 'श्री 420' आयी। इस फिल्म के नायक अमीर होने के लिए गलत राह पर चल पड़ता है, लेकिन अभिनेत्री अपने आदर्श से जरा भी नहीं डिगती और अंततः नायक भी आदर्श की ओर लौट आता है। इस दौर की फिल्में में आदर्श की जीत बहुत आम परिघटना थी। गलत से गलत व्यक्ति भी आदर्श की ओर लौट आता था या जो नहीं लौटता था वह मारा जाता था। इसी दौर शंभु मित्रा की 'जागते रहो' जैसी शानदार फिल्म आई,

जिसमें यह दिखाया गया कि अमीर होने के लिए लोग क्या-क्या करते है। और एक ईमानदार गरीब आदमी पानी के लिए भी तरस जाता है, वह पानी भी  पीता है तो उसे चोर कहा जाता है। इस फिल्म का गरीब नायक खड़े होकर पूरे समाज को आईना दिखा देता है।

वास्वत में 1950 का दशक भारतीय फिल्मों नायकत्व के सशक्त होने का समय है। भारतीय समाज सदा से नायक की तलाश में रहा है, कोई ऐसा नायक जो सबके लिए बात करे, सबके लिए लड़े सबको संबोधित करे। इस दशक में सरकार के अंदर हो अनेक नायक थे, जो आजादी की लड़ाई से होकर उभरे थे। महत्मा का दौर बीच चुका था। पंडित जवाहर लाल नेहरू का दौर चल रहा था। नेहरू फिल्म प्रेमी व्यक्ति थे वे फिल्म वालों के लोकप्रियता से प्रभावित रहते थे। उनके समय सरकार ने फिल्मों के विकास के लिए कई तरह से प्रयास शुरू किए, इससे भी फिल्मों में नायकत्व को बन मिला। पहलेके दशकों की अपेक्षा इस दशक में ज्यादा बेहतर ढंग से सुलझने लगीं, साफ-साफ अपनी बात रखने लगी। गरीबी, अभाव, तरह-तरह के भेदभाव, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, फांसीवाद, हिंसा इत्यादि देश की बड़ी समस्याओं को फिल्मों ने बहुत तरीकों से भरपूर मनोरंजन करते हुए भी प्रस्तुत किया।

इस दशक के प्रतिनिधि नायक अभिनेता का अगर चुनाव किया जाए तो दिलीप कुमार देव आनंद और राजकपूर के बीच में हमें राजकपूर को चुनना चाहिए क्यों  वो  एक ही साथ कई तरह की प्रतिभा  का प्रदर्शन  कर रहे थे। निर्माता, निर्देशक, अभिनेता संपादन इत्यादित की भूमिका में वे अपने समकालीन, स्टारों से आगे थे। हां इस दौर में एक और प्रतिनिधि नायक-अभिनेता को भी श्रेय देना चाहिए। वलराज सहनी इनके बिना यह दशक आदर्श दशक नहीं बनता, विमल राय के निर्देशन में 'दो बीघा जमीन' फिल्म बलराज साहनी के लिए ही नही बल्कि इस दशक में नया सिनेमा के लिए भी उत्कर्ष है।

इस दशक की एक खास बात है कि नायक आदर्शों और समाजवादी मूल्यों का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थक था, लेकिन उसे ठीक से प्यार करना नहीं आता था। प्यार की अनुभूति मजबूत आकर नहीं ले सकी थी 'अरेंज्ड मैरेज' का समाज था, जैसी समाज और परिवार की इच्छा होती थी, युवा वैसा ही करते थे। अपने प्यार की बलि चढ़ा देते थे या समझ ही नहीं पाते थे कि प्यार में क्या किया जाए। ध्यान देना पड़ेगा कि, इसी दौर में विमल राय ने 'देवदास' का निर्माण किया। एक ऐसा नायक जो न ठीक से प्यार कर सका, न ठीक से प्यार पा सका। गुरुदत्त की 'प्यासा' में भी यही हुआ। देवदास अगर चाहता तो बहुत आसानी से पारो से विवाह करके सुखी हो जाता, पारो उसे बहुत चाहती थी, लेकिन फिर वही जमींदारी, लोकलाज, परिवार, समाज इत्यादि-इत्यादि। फिर चंद्रमुखी से प्यार हुआ॥ लेकिन वह भी मुकाम पर नहीं पहुंच सका फिर वाही लोकलाज, परिवार, समाज इत्यादि। शायद यह एक तरह से प्रगतिशीलता का आहवान था कि देखो व्यक्तिगत प्यार की कोई औकात नहीं, देश को देखो, समाज को देखो और तब फैसला लो। एक तरह से इस दशक में नायक यह तो बोल सका कि मैंने दिल तुझको दिया, लेकिन बात नहीं बढ़ा सका, क्योंकि उसमे साहस का अभाव था। प्रेम की पुकार की तुलना में देश, समाज और परिवार की पुकार बढ़ी भी॥

1950 के दशक का फिल्मी नायक संपूर्ण हिदी सिनेमा का सबसे प्रभावी नायक है, इसकी नकल आज भी हो रही है। हमें यह भी ध्यान देना चाहिए कि 1950 के दशक का नायक ही भारतीय सिनेमा को विश्व पटल पर ले गया था। राजकपूर दुनिया के कई देशों में लोकप्रिय थे ठीक वैसे ही जैसे विश्व पटल पर नेहरु राजनीतिक दुनिया में चर्चित थे। पंडित नेहरु समाजवादी थे और उस दौर के राजकपूर भी समाजवादी। यह एक अलग तरह के आश्चर्य का समय था, सरकार भी नैतिकता

के साथ समता और संपन्नता  के सपने देख रही थी और फिल्मों ने भी यही किया। उस दौर की सरकार भी सेकुलर होने के प्रयास में थी और फिल्मे भी ठीक ऐसा ही कर रही थी, कोई शक नहीं जब भी भारतीय फिल्मी नायक का विश्वास डिगेगा उसे 1950 के दशक के पूर्वज नायक से सीखना पड़ेगा और देश को तो बेहतरी के लिए उस दशक के अनुभवों से हमेशा सीखना चाहिए।

पचास का दशक हिन्दुस्तानी सिनेमा का स्वर्ण दशक माना जाता है, इसी दौरान इस सिनेमा की व्यवसायिकता, कलात्मकता और नियमन को लेकर आधारभूत समझदारी भी बनी जिसने आज तक भारतीय सिनेमा को संचालित किया है यही कारण है कि सौ साल के इतिहास  को खंगालते समय इस दशक में बार-बार लौटना पड़ता है इस आलेख में इस अवधि में बनी फिल्मों और उनके नेहरुवादी राजनीति से अंतर्संबंधों की पड़ताल दी गई है, अक्सर यह कहा जाता है कि 1950 के दशक की पापुलर फिल्में ने तब के भारत की वास्तविकताओं को सही तस्वीर नहीं दिखाई क्योंकि तब फिल्म उद्योग जवाहरलाल नेहरु के नेतृत्व में बनी नई सरकार द्वारा गढ़े गए और गढ़े जा रहे राष्ट्रवादी मिथकों को परदे पर उतारने में लगा था। फिल्मों के  व्यापक महत्व को समझते हुए नई  सरकार ने नई संस्थाएं स्थापित की और बड़े पैमाने पर दिशा-निर्देश जारी किए गए।

1951 में फिल्म इंक्वायरी कमेटी ने फिल्म उद्योग से आहवान किया कि वह राष्ट्र निर्माण में अपना योगदान दे और सरकार को मजबूत करे। इस रिपोर्ट में सरकार ने उम्मीद जताई कि हिन्दुस्तानी 'सिनेमा' राष्ट्रीय संस्कृति, शिक्षा और स्वस्थ मनोरंजन को केंद्र में रखकर काम करेगा जिससे एक बहु आयामी राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण हो

सके, सरकार ने सिनेमा को नियंत्रित करने के लिए आर्थिक नियंत्रण और सेंसरशिप का भी सहारा लिया। लम्बे समय तक सूचना एवं प्रसारण मंत्री रहे बीवी. मेसकर ने तो आकाशवाणी पर फिल्मों गीतों के प्रसारण को ही प्रतिबंधित कर दिया था। श्री 420 (राजकपूर) प्यासा (गुरुदत्त) मदर इंडिया (महबूब) नया दौर (वी.आर चोपड़ा) के माध्यम से यह रेखांकित करने की कोशिश की गई कि तमाम नियंत्रणों और नियमन के बावजूद तत्कालीन हिन्दुस्तानी सिनेमा ने नेहरु युग का चित्रण बड़ी परिपक्वता के साथ किया। इसमें से कुछ फिल्में राज्य राष्ट्रवादी चिन्तन का स्पष्ट रूप समर्थन करती है, वही कुछ उसकी जोरदार आलोचना भी करती है। नेहरु के नेतृत्व में भारतीय समाज को बदल देने की राष्ट्रवादी राज्य की महत्वकांक्षा का स्क्रिप्ट शहरों में तैयार हुआ और यहाँ से गाँव-कस्बों में ले जाया गया। इस आधुनिकता ने हिंदुस्तान और वाशिंदों को जटिलताओं और विरोधभास के आखाडे में धकेल दिया। खिलनानी के अनुसार – आधुनिक विश्व के सभी प्रलोभन शहरों में केन्द्रित है, लेकिन यही पर अनेक हिन्दुस्तानियों ने इस आधुनिकता की मृग मरीचिका को भी समझा। उन अनुभवों ने भरोसों को झिंझोड़ा, नई राजनीति को पैदा किया और ये शहर भारतीय लोकतंत्र के विरूद्धों के रंगमंच बने। इन शहरों मे भारत की समझदारी को लेकर नए विवाद हुए और नई परिभाषा गढ़ी गई।

शहरों के इस बदलते माहौल ने फिल्मकारों को जटिल कथानको को और आकर्षण पैदा किया जिन्हें मेलोड्रामा और सामाजिक फिल्म शैली में परदे पर उतारा जा सके। यह महज कहीं पीछे छूट गई। सीधी-सादी जीवन शैली के लिए ललक नहीं थी, बल्कि यह खो गयी निर्दोषता की तलाश भी और राष्ट्र निर्माण दे बृहद उत्सव में एक कला-रूप द्वारा अपनी जगह तलाशने और बनाने की जिद भी थी। उल्लेखनीय है

कि 'श्री 420' में बेहतरीन कपड़े पहने एक बेघर वार  नायक उस नेहरु की राजनीति को प्रतिनिधित्व देता है जो सुरुचि पूर्ण कपड़े पहनता हैं नायक गाता है – निकल पड़े खुली सड़क पर अपना जीना ताने/मंजिल कहाँ, कहाँ रुकना हैं, ऊपर वाला जाने।

इस गीत में आजादी की आधी रात  को दिए नेहरु के 'नियति  के साथ करार ' भाषण की गूंज सुनाई  देती है। जिसमे उन्होंने कहा था कि 'क्या हमारे अंदर ' इतना साहस है कि इस अवसर को थामें और भविष्य की चुनौतियों को स्वीकार करें। फिल्म के शुरू में ही शहर को लेकर बनी समझदारी को उस मील के पत्थर के माध्यम से दिखाया गया है जिस पर शहर बंबई  की दूरी 420 k.M. लिखी है। भारतीय दंड संहिता में यह उस धारा की संख्या है जिसके अंतर्गत 'धोखाधड़ी' और 'जालसाजी' जैसे अपराध आते है। शहर के धूर्तता से भरी जगह होने लोकमानस की आम-समझ से ही यह फिल्म शुरू होती है।

शहर से नायक राजू का पहला परिचय उसकी भागती-दौड़ती जीवन शैली से होता है। अराजक शहर को देखकर विस्मित राजू खुद से कहता है- क्या बंबई में रहने वाले सभी बहरे है! बम्बई से परिचय  के प्रारंभिक से क्षण दिखते है।कि राजू  कि कस्बाई निर्दोषता शहरी संस्कृति से बेमेल  ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का केन्द्र रहे शहर इलाहाबाद के राजू के लिए देश की आर्थिक राजधानी बंबई एक ऐसा स्थान है। जहां उसके लिए जगह नहीं है। राजू के पास बैठा भिखारी सीधे-सीधे कहता है। ये अंधे-बहरे पैसे के अलावा कुछ और नहीं देखते। यहां इमारतें कंक्रीट की  बनी है। और दिल  पत्थर का। इस शहर में बचे रहने की लड़ाई की इस कहानी में फिल्म मे  लगातार नैतिकता और अच्छाई का पक्ष लेती है। नगर निरंतर

विलगाव पैदा करता है।लेकिन नायक बिना अपनी संवेदनशीलता थोपे वहीं रहने की जिद धरे हुए है। फिर वहां विस्थापित बेघर मजदूर है। जो नायक को पनाह देते हैं एक जैसी मुश्किलों के आधार पर यह सहभागिता बनती है।

श्री 420 का बेघरवार विस्थापित नए भारत का अपना दृष्टिकोण लेकर 'आवारा' में भी उपस्थित है। इस फिल्म में भी झुग्गी-झोपड़ी में जी रही जिंदगी का चित्रण है और इसका मानना है कि बुनियादी जरूरतों के पूरा न होने की मजबूरी में ही गरीब को अपराध करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। मशहूर गीत आवारा हू... गीत शहर की सड़कों और बाजारों की हलचलों को रेखांकित करता है इस फिल्म में भी अपराधिक तत्व और पुराने मूल्य खलनायक के बतौर मौजूद है। शहर अमीरों और गरीबों के द्वैत में बंटा है। जज रघुनाथ जब अपनी पत्नी को घर से निकाल देते है तो फिल्म सीता के मिथक का सहारा लेकर महिलाओं की आम स्थिति को बयान करती है। जुल्म सहे भारी जनकदुलारी कुल मिलाकर यह फिल्म भी नेहरूवादी दृष्टि को भविष्य का रास्ता बताती है।

विमल राय की फिल्म 'दो बीघा जमीन' राष्ट्र के विकास माडल और उसको वर्गीय सांठ-गांठ को सामने लाती है। इस फिल्म का केन्द्रीय चरित्र कर्ज की रकम चुकाने के लिए रोजगार की तलाश में गांव से शहर- कलकत्ता जाता है। आधुनिकता समृद्ध पैदा करती है इस अपवाह से प्रभावित नायक शम्भू महतो कहता है- कलकत्ता में पैसे हवा में उड़ते है। शहर एक बार फिर गांव से आये आदमी के लिए सहज नहीं है। और रहने की जगह बड़ी समस्या है। यह समस्या गरीबों में एक साझेदारी पैदा करती है।

फिल्म यह भी दिखाती है कि सरकारी तंत्र खाली पड़ी जगहों पर गरीबी को बैठने भी नहीं देता। यह दृश्य राजकपूर और गुरूदत्त की फिल्मों में दिखताहै। पानी को लेकर हो रहे झगड़े के माध्यम से झुग्गी की जिंदगी की मुश्किलों को दिखाया गया है, एक दृश्य में महतो कहता है- पैसे के बिना सांस लेना भी मुश्किल है, 'गरीबों की दशा को विकलांग मजदूर, बूढ़े, रिक्शावाले, बाल मजदूर आदि के माध्यम से भी रेखांकित करने की कोशिश की गई है। शहर के वंचित तबकों की जिंदा रहने की लड़ाई को फिल्म दिखाती है। लेकिन इससे पहले उल्लेखित फिल्मेां की तरह कोई नियति के साथ करार माडल का समाधान नहीं देती, सत्ता तो सत्ता.... गजब तेरी दुनिया.... गीत के माध्यम से गरीब भगवान से भी नराजगी दिखाते हैं, इन तीनों फिल्मों में महानगर को 'परदेस' और मूल निवास को 'देस' की संज्ञा दी गयी है। यह आधुनिकता की विचारधारा से हिंदुस्तान के बड़े हिस्से की असहजता का द्योतक है।

इस दशक की महत्वपूर्ण फिल्मों में से एक है। वी. आर. चोपड़ा की 'नया दौर' इसका कथानक प्रारंपरिक उद्योग और मशीनीकरण के बीच बहस पर केन्द्रित है फिल्म की शुरूआत महात्मा गांधी के एक कथन से होती है। जिसमें श्रम की महत्ता की बात कही गयी है। पूरी तरह के से गांव में स्थित यह फिल्म शहर के संदर्भों से भरी है। गांव के आर्थिक मुखिया का बेटा शहर से शिक्षित लेकर लौटता है और आधुनिकीकरण तथा अधिक लाभ के प्रेरित है। वह शहर से प्रशिक्षित श्रमिक मगाता है। मशीने लगाता है और बेरोजगार गांव वालों को शहर जाने सलाह देता है इस पर नायक कहता है 'देशवालों को परदेश भेजना चाहते हो' शहर से आया पत्रकार वामपंथी रूझान का है।

पारंपरिक कौशल के बीच संतुलन बनाने के संदेश के साथ खत्म होती है। यह फिल्म जहां नेहरूवादी रूझान के साथ चलती है। वही फिल्म का खलनायक नेहरू की भाषा में बोलता है। इसे नेहरू जी की आलोचना के तौर पर देखा जाना चाहिए क्योंकि उसके पिता गांधी की समझदारी का प्रतिनिधित्व करते है। उनकी नजर में गांव के मूल्य पवित्र है कई जगह नायक शंकर वामपंथी सिद्धांतों से प्रभावित नजर आता है। इस अलग-अलग समझदारियों के बीच संतुलन व सामंजस्य की जरूरत को रेखांकित करते हुए फिल्म पूरी होती है लेख में पहले ही कहा गया है कि नेहरू 1951 तक खुद अर्थव्यवस्था के सभी घटकों में संतुलन की बात कहने लगे थे। और औद्योगिकीकरण को लेकर अभी जिद में कमी आ रही थी फिल्म धार्मिक अंधश्रद्धा पर भी प्रहार करती है। नायक एक जगह उंची जातियों और वर्गो पर गरीबों के शोषण के लिए धर्म और आस्था की आड़ लेने का आरोप भी लगाता है। और कहता है ''आदमी के रास्ते में भगवान भी आयेगा तो मैं रूकूंगा नहीं'। किसानों और गांव वालों के सामने सिर्फ उद्योगीकरण ही चुनौती के रूप में मौजूद नहीं था। अशिक्षा और असंगठित होने के कारण किसान जमींदारों और महाजनों के हाथों लूटे जा रहे थे। उन्हें खेती छोड़ शहर की पलायन करना पड़ता था।

'दो वीघा जमीन' की तरह गुरूदत्त की 'प्यासा' भी स्थिति पर संताप करती है।, उस युग के बुरे हालात को फिल्म भूख़ बेरोजगारी, वेश्यावृत्ति आदि के माध्यम से दिखाती है। और किसी समाधान को सुझाने से बचती है फिल्म के अंत में नायक व शहर छोड़ किसी अनजान जगह की ओर चल देते है।

'जिन्हें नाज है हिंद पर वो कहां हैं' गीत के जरिए नायक गरीबों की दुर्दशा के लिए राज्य और समाज को सीधे-सीधे दोषी ठहराता है। हिंदुस्तान की महान फिल्मों में एक मानी जाने वाली 'मदर इंडिया' को नेहरूवादी राजनीति का सिनेमाई अनुवाद कहा जाता है। स्त्री, किसान और विकास के सहारे यह फिल्म महाजनी व्यवस्था और शोषण के विरूद्ध हिंसक विद्रोह की आलोचना करती हुई राज्य और उसके आधुनिक विकास के मॉडल को समाधान के रूप में सामने रखती है। इसी कारण मदर इंडिया को सिनेमाई 'भारत की खोज' भी कह दिया जाता है।

स्वतंत्र भारत की लोकसत्ता और उसका वर्ग चरित्र--- 1959 में बनी फिल्म 'धूल का फूल' का प्रख्यात गीत 'तू हिन्दू बनेगा न मुसलमान बनेगा। इंसान की औलाद है इंसान बनेगा' में साहिर ने पहले अंतरे में लिखा था।

**अच्छा है अभी तक मेरा नाम कुछ नहीं है।**

**तुझकों किसी मजहब से कोई काम नहीं है।**

**जिसे इल्म ने इंसानों को तकसीम किया है।**

**उस इल्म का तुझ पर कोई इल्जाम नहीं है।**

इस गीत से जाहिर है कि साहिर लुधियानवी का संकेत यहां विभाजन की ओर ही है। इसी गीत में वे अपनी बात को और स्पष्ट करते है।.....

**मालिक ने हर इंसान को इंसान बनाया**

**हमने उसे हिंदू और मुसलमान बनाया**

**कुदरत ने तो बख्शी भी हमें एक ही धरती**

**हमनें कहीं भारत कहीं ईरान बनाया।**

साहिर के मस्तिष्क में विभाजन के समय दंगों की स्मृतियां थी इसलिए उन्होंने एक अंतर में यह भी लिखा है।

**नफ़रत जो सिखाए वो धरम तेरा नहीं हैं,**

**इंसा को जो रौंदे वो कदम तेरा नहीं है।**

और वे उम्मीद करते है कि यह बच्चा बड़ा होकर 'अम्ल और सुलह का अरमान बनेगा।

अहिंसा से अंतर्विरोधों के शमन की कोशिशें------ व्ही. शांताराम की फिल्म 'दो आंखे', 'बारह' (1957) में यही आदर्श कहानी का आधार बनता है। हत्या जैसे क्रूर अपराधों में कैद लोगों को सुधारने का वीड़ा जेलर उठाता है। इन अपराधियों को जिनका चेहरा-मोहरा और चाल-ढाल ही बताती है कि उनका संबंध शहर से नहीं गांव से है। नायक उन्हें गांव में सामूहिक खेती द्वारा सही रास्ते पर लाता है। और वे मेहनत के पाठ द्वारा सीखते है। कि अपराध नहीं बल्कि श्रम ही जीवन की सही पहचान है। मुझे जीने दो (1963) जिस देश में गंगा बहती है (1960) और कुछ हद तक गंगा जमुना (1961) में डाकुओं को प्रेम और सद्भाव के जरिए अहिंसा के मार्ग पर चलने का संदेश दिया गया है। इन फिल्मों में गीतों से यह याद दिलाया गया कि अब देश आजाद है। (आप कोई गुलशन न उजड़े, अब वतन आजाद है, मुझे जीने दो) और अपराध पर के मार्ग पर चलने की आवश्यकता नहीं है। इस देश की महान परंपरा की

याद दिलाते हुए (मिलजुल के रहो और प्यार करो, एक चीज यही जो रहती है- जिस देश में गंगा बहती है) हिंसा के मार्ग को छोड़ने का आह्वान किया जाता है। और बच्चों का आह्वान किया जाता है कि वे इंसाफ की डगर पर चलो।

**जातिवाद और दलित उत्थान का जश्न-**

ग्रामीण यथार्थ की बात करने पर जातिवाद और दलित दत्थान का प्रश्न भी उभरकर सामने आता है। हिंदू समाज जातिवाद छुआछूत, उंच नीच के भेदभाव से ग्रस्त था। दलित कही जाने वाली जातियों को सामान्य मानवाधिकार भी हासिल नहीं थे। उन्नींसवीं सदी के अंत और बीसवी सदी के आरंभिक दौर में ही दलित आंदोलन धीरे मजबूत होने लगा था और दलितों के आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की मांग तेजी से उठने लगी थी।

विमलराय ने अपनी बहुचर्चित फिल्म 'सुजाता' में उपरोक्त बातों को उठाया है। फिल्म का कथानक अछूत समस्या पर आधारित है। लेकिन इस समस्या को दलितों की नजर से नहीं देखा गया है। यह कहना सही है कि फिल्म दरअसल दलित यथार्थ पर आधारित नहीं है बल्कि दलितों के प्रति सवर्णों के रवैये को कहानी का आधार बनाया गया है। दलित प्रश्न को इस दृष्टि से देखने का अपना महत्व है। क्योंकि जातिगत भेदभाव के लिए और जातिवाद भी समाप्ति के लिए सबसे जरूरी यह कि सवर्ण हिंदू अपने उच्च होने के अभिमान का त्याग करे और दलित को न केवल इंसान समझे बल्कि उसके साथ रोटी-बेटी का संबंध भी बनाएं। यह फिल्म दलितों के उत्थान के प्रश्न से संबंधित नहीं है। हालांकि यह भी एक महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न रहा है।

सामंती व्यवस्था के ढहते जाने की करुण गाथा 'साहब बीवी और गुलाम' और आसमान, 'महल' में देख सकते है। उक्त दोनों फिल्मों ने इस ऐतिहासिक सत्य को कलात्मक रूप में पेश किया है कि पूंजीवादी के उदय के साथ-साथ सामंतवाद का अंत निश्चित है। और उसके मरने के  कारण स्वयं उसके अस्तित्व में निहित है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पूंजीपति वर्ग की बढ़ती शक्ति व्यापक पैमाने पर होने वाले उद्योगीकरण में व्यक्त हुई है। लेकिन विकास की प्रक्रिया सभी के लिए समान रूप से सुखद रही थी। देश के नवनिर्माण का जो उत्साह तथा अपना भविष्य सुखद होने की जो आशा थी। वह उस दौर की फिल्मों में बारबार व्यक्त हुई है।

इन फिल्मों  पर बात करते हुए हमें मेलाड्रामा को भी ध्यान में रखना चाहिए। जहां जोरदार भावुकता, नैतिक ध्रुवीकरण स्पष्ट दुष्टता, संवादों, हाव भाव, और स्थितियों का अतिरेक, अच्छाई की जीत आदि तत्वों की निरंतर मौजूदगी रहती है। अच्छाई और बुराई के साथ धुर्वीकरण के द्वारा मेलोड्रामा देश और काल की असली शक्तियों का चित्रण  करता है और बुराई से संघर्ष के लिए प्रेरित करता है। ताकि समाजिक व्यवस्था को बरकरार रखा जा सके। इसी  क्रम में गीत संगीत और अन्य कला-पक्षों का भी ख्याल रखा जाना चाहिए। ये सभी फिल्में इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि लोगों में सुखद भविष्य की आशा जगाती है। बल्कि इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि ये उन आशंकाओं को भी सामने लाती है जिनके बिना उस  दौर के सामाजिक यथार्थ को और राजसत्ता के वास्तविक चरित्र को नहीं समझा जा सकता हैं।

## अध्याय- दो

## 1947 में भारत विभाजन की त्रासदी और हिंदी सिनेमा में साम्प्रदायिका का यथार्थ।

### भारत विभाजन के समय बनी फिल्में

आज जब हम पिछली सदी को याद करते है। तो आजादी के बाद हुए बंटवारे की घटना को ऐतिहासिक त्रासदी के तहत जरूर याद करते हैं। सन् 1947 में हुआ भारत-पाक विभाजन मात्र किसी प्रदेश या भूमि का विभाजन नहीं हुआ, वह भारतीय पर

मानस की संवेदनाओं का विभाजन भी था विभाजन की उस त्रासदी से गुजरने वाला प्रत्येक चरित्र आज भी दर्द महसूस करते हुए उद्देलित हो उठता है। हालांकि विभाजन पूर्व अंग्रेजों के शासन काल में हमारे यहां हिंदु ओं मुस्लिमों के बीच स्थाई एवं टिकाउ साम्प्रदायिक सौहार्द लाने के लिए संयुक्त मंच स्थापित करके कई प्रयास किए गए थे। इन प्रयासों के बावजूद भी इन दोनों सम्प्रदायों के बीच साप्रदायिक संघर्ष को स्थितियां बरकरार रही। कई संप्रदायों में विभक्त होने के कारण हमारे समाज को धर्म की रस्सी से बांध कर देखा जाता है। चाहे वह सामाजिक आधार हो। अलग-अलग साम्प्रदाय के लोग धार्मिक परिस्थिति में ही नहीं बल्कि अन्य मामलों में भी एक निश्चित समूह की तरह कार्य और आचरण करते हैं, क्योंकि उनकी धार्मिक आस्था एक जैसी है, अर्थात् सम्प्रदायवाद सिर्फ धार्मिक कृत्यों में ही उपस्थित नही रहता बल्कि राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि कृत्यों में भी उपस्थित रहता है। अनेक सामाजिक विसंगतियों की तरह साम्प्रदायिकता भी एक सामाजिक समस्या है जिसे साहित्य के साथ-साथ फिल्मों ने भी दिखाया है।

हिंदी प्रदेश की जातीय छवि को हिंदी सिनेमा बखूबी पेश करता है। हिंदी प्रदेश की जातीय छवि हिंदू-मुस्लिम की संस्कृति से मिलकर बनती है। मध्यकाल में मुस्लिम शासन में भी इस संस्कृति को शासन व्यवस्था से जुड़े लोगों ने व्यक्त किया तो संतों और सूफ्यिों ने प्रेम काव्य में काव्य में दर्ज किया। आधुनिक युग के औपनिवेशक शासन में हिंदू मुस्लिम दो समुदायों ने मिलकर इस सत्ता के विरोध में स्वतंत्रता आंदोलन की लड़ाई लड़ी। औपनिवेशक साम्राज्यवादी कूटनीति और कुछ भारतीय राजनीति की भूलों से भारत विभाजन हुआ। घोर साम्प्रदायिक दंगे हुए। हिंदूमुस्लिम समाज और उनके संबंधों पर इनका गहरा असर हुआ। सुधी साहित्यकारों और फिल्मकारों ने अपनी रचनाओं और फिल्मों के मार्फत हिंदूमुस्लिम अलगाव को कम करने का सराहनीय प्रयास किया।

## विभाजन के समय का सिनेमा-

हिंदी सिनेमा में आरंभिक दौर से ही हिंदू-मुस्लिम सौहार्दपूर्ण संबंध को तरजीह दी गयी। हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र हिंदूमुस्लिम संबंधों का मिला-जुला रूप है। इस सिनेमा में किसी एक खास धर्म पर आधारित फिल्में ही हिट रही हो ऐसा कभी नहीं रहा, प्रायः अपनी उत्कृष्ट कहानी, फिल्मांकन, संवाद एवं संगीत पर आधारित फिल्मों को सदैव पसंद किया गया। जहां तक मुस्लिम पृष्ठभूमि पर आधारित अथवा हिंदू-मुस्लिम संबंधों पर आधारित फिल्मों की बात हो तो आजादी के पूर्व या आजादी के बाद हिंदी सिनेमा में मुस्लिम जीवन एवं यथार्थ को बयां करती बहुत सी फिल्में है जिन्हें सिनेमा में 'मील का पत्थर' माना जाता है इन फिल्मों को हिंदू-मुस्लिम दोनों प्रकार के दर्शकों ने खूब सराहा जिसके कारण इन फिल्मों ने सफलता का परचम लहराया इस प्रकार की फिल्मों में पुकार (1989) शाहजहां (1946), मुगले-ए-आजम (1960), चौदहवीं का चांद (1960), पाकीजा (1971), उमराव जान (1981), आदि इसके

अतिरिक्त कलात्मक फिल्में जिनको कलात्मकता के स्तर पर सराहा गया और इनको कई सम्मान भी मिले। इनमें 'दस्तक', 'शतरंज के खिलाड़ी' 'उमराव जान', 'बाजार' 'मम्मो' 'जुवैदा', एवं 'इकवाल' आदि फिल्में है।

## मुगल के पृष्ठभूमि पर बनी फिल्में

हिंदी सिनेमा के दर्शक यह बात अच्छी तरह से जानते है कि वे विविध धर्म सम्प्रदाय वाले देश में रहते हैं जिसमें हिंदू-मुस्लिम सामाजस्य पर आधारित फिल्मों का निर्माण किया। इन फिल्मों में यह दिखाया गया कि धर्म और जाति से ज्यादा महत्व मनुष्यता या आदमीयत का होता है। आजादी के पूर्व मुगलकाल की पृष्ठभूमि पर आधारित कई फिल्मों का निर्माण हुआ जिनमें उस काल के वैभव से ज्यादा त्याग, बलिदान, न्याय, प्रेम और सौहार्द को बड़ी सफलता से दर्शाया गया है। 1945 में मुगल सम्राट 'हुमायू' के नाम पर 'महबूब खान' ने फिल्म बनायी जिसमें पावर के हाथों पराजित हिंदू राजा की बेटी को वह अपनी पुत्री की तरह मानता है और उसका पुत्र हुमायू उसी राजकुमारी की रक्षा के लिए अपना राज्य त्याग देता है। इसके बाद किरदार जी ने 'शाहजहां' के नाम से फिल्म बनायी जिसमें हिंदू-मुसलमानों के आपसी सौहार्द की कहानी कही गयी है। इन फिल्मों से यह बात स्पष्ट है कि आजादी के पूर्व या आजादी के बाद भारत में हुए साम्प्रदायिक विभाजन के पश्चात भी इनको सराहा गया। इस कड़ी में अकबर के समय की पृष्ठभूमि पर आधारित दो फिल्में आती है जिनको हिंदी सिनेमा में अप्रतिम सफलता मिली। इनमें संगीत पर आधारित वैजू बावरा' (1952) और प्रेम प्रधान फिल्म 'मुगले-ए-आजम' का नाम लिया जा सकता है।

इन फिल्मों  की अपार लोकप्रियता हिंदी सिनेमा के दर्शकों की कलात्मक अभिरूचि की उदात्ता को उजागर करता है। इन फिल्मों में तमाम पहलुओं के अलावा मुख्य विषय

अभिजात्य और साधारण जन का संघर्ष एवं द्वंद्व है। वैजूबावरा में एक साधारण लोक गायक अकबर के दरबार के महान गायक तानसेन को हटा देता है। वही मुगले-ए-आजम में एक मामूली कनीज अनारकली अकबर के भावी उत्तराधिकारी पुत्र सलीम के प्रति अपने प्यार इजहार भरी महफिल में करके अकबर की शक्तिशाली बादशाहत को चुनौती देती है। अकबर कालीन समय पर आधारित इन फिल्मों में हिंदू-मुस्लिम सौहार्दपूर्ण संबंधों को दर्शाया गया है। अकबर एक उदार शासक है उसके दरवार के नवरत्नों में मुस्लिमों के साथ हिंदू भी जगह पाते है। वह अपनी पत्नी जोधाबाई को उसके पूरे हिंदू रीति रिवाजों के साथ स्वीकार करता है। अकबर के विरूद्ध सलीम के बगावत के समय सलीम का साथ दुर्जन सिंह देता है। कहना न होगा वे फिल्में एक ओर सामंती दौर के चेहरे को उजागर करती है। वहीं हिंदू-मुस्लिम दोस्ताना संबंधों को भी दर्शाती है।

**सिनेमा में मुस्लिम अभिजात्य वर्ग-**

मुस्लिम समाज और चरित्रों को लेकर हिंदी सिनेमा में हर दौर में फिल्में बनती रही है किन्तु ज्यादातर फिल्में मुस्लिम आभिजात्य वर्ग से जुड़ी हुई है। इनके अतिरिक्त मध्यवर्ग एवं निम्नवर्ग से जुड़ी हुई है। इनके अतिरिक्त मध्यवर्ग एवं निम्नवर्ग से जुड़ी फिल्में तथा मुस्लिम चरित्रों को लेकर फिल्मों का निर्माण हुआ है। मुस्लिम अभिजात्य समाज पर आधारित फिल्मों में मुगले-ए-आजम, चौदहवी चांद, मेरे महबूब (1963), बहू बेगम (1967) पाकीजा (1971), उमराव जान (1981)।

**सिनेमा में मुस्लिम मध्यवर्ग-**

मध्यवर्ग के समाज या आधारित ज्यादातर फिल्मों में कलात्मक सिनेमा का ज्यादा योगदान रहा। इन फिल्मों में बाजार (1982), अंजुमन (1986), मम्मों (1994), नसीम

(1995), मुस्लिम चरित्र प्रदान फिल्मों में धूल का फूल (1959), काबुली वाला (1961), मुझे जीने दो (1963), जंजीर (1973) शोले (1975), मिर्च मसाला (1985), रोजा (1992), बाम्बे (1995), जख्म, हेराम (1999), सरफरोश (199), गदर (2001), इन फिल्मों में मुस्लिम चरित्र कथानक का महत्वपूर्ण अंग बनकर आते है। ये पात्र हिंदूमुस्लिम से ज्यादा उस समाज की समस्या से जूझते अन्य पात्रों के साथ मिलकर फिल्म में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। उदाहरण तौर पर यहां पर 'मम्मो' फिल्म का जिक्र करना जरूरी हो जाता है। धर्म के आधार पर देश विभाजन की विडम्बना को 'मम्मों' (1994) में दिखाया गया है। 'मम्मो ' एक ऐसी स्त्री महमूदा (फरीदा जलाल) की कहानी है जिसे विभाजन के समय अपने पति के साथ पाकिस्तान के शहर लाहौर में बसना पड़ता है। पति की मौत के बाद वह अस्थायी वीजा लेकर अपनी बहन के पास बंबई चली जाती है। और यहीं रह जाना चाहती है। लेकिन कानून उसकी इजाजत नहीं देता। वह हर मुमकिन कोशिश करती है कि उसे पाकिस्तान न भेजा जाय, जहां उसका अपना कहने वाला कोई नहीं है,लेकिन वीजा की अवधि समाप्त होने पर पुलिस उसे जबर्दस्ती पाकिस्तान भेज देती है। फिल्म मम्मों की विडम्बना को गहरी तल्खी और संवेदना के साथ पेश करती है। एक औरत जो हिंदुस्तान में पैदा हुई। जिसके वचपन और यौवन की यादें इस माटी से जुड़ी है।

जिसने करीबी रिश्तेदार यहां रहते हैं। सिर्फ इसलिए यहां नहीं रह सकती, क्योंकि वह विभाजन के समय पाकिस्तान चली गयी थी। वह पाकिस्तान इसलिए नहीं गयी थी कि वह पाकिस्तान की समर्थक थीं या वह उस में रहना चाहती थीं, जिस देश के राज्य का धर्म इस्लाम था। वह तो पाकिस्तान इसलिए गयी थी कि जिस व्यक्ति के साथ उसका विवाह हुआ था वह पाकिस्तान जा रहा था। उसके जीवन भी डोर तो शौहर के साथ बंधी थी। जब तक उसका पति जिंदा रहा तब तक उसके साथ रही, लेकिन जब उसका पति ही जीवित नहीं रहा तो वह उस

अजनवी देश मे  क्यों रहे? उसका कोई बच्चा भी नहीं है व्यक्ति की दुनिया जमीन के टुकड़े से नहीं बनती। वह उन लोगों से बनती है, जिनसे उसका आत्मीय रिश्ता है।

मम्मों उस देश क्यों न चली आए, जिसकी माटी में उसका जन्म हुआ है और जहां उसके अपने लोग रहते हैं मम्मों के लिए विभाजन का क्या मतलब है? यदि उसे अपने ही लोगों के बीच रहने का मानवीय अधिकार नहीं दिया जाता। क्या मम्मो की वेदना को वे लोग समझ सकते हैं जिन्होंने हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की बीच मजहब भी दीवारें खीच रखी है। जमीन के टुकड़ों को लेकर युद्ध करने वाले और लाखों-लाख लोगों के जीवन को  खतरे में डालने वाले यह भूल जाते है कि देश और प्रान्त की दीवारे तो मनुष्य ने ही पैदा की है। धर्म और राष्ट्र के नाम पर जमीनों का बंटवारा करने वाले यह भूल जाते है कि मम्मों जैसी साधारण स्त्री के लिए इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं है। उसके लिए न पाकिस्तान का कोई  अर्थ है और न हिंदुस्तान का। मम्मों पाकिस्तान नहीं जाना चाहतीं है, इसलिए नहीं  वह पाकिस्तान से नफरत करती है, बल्कि इसलिए कि उसका अपना कोई वहां नहीं। वह अपनों की तलाश में ही हिंदुस्तान आती है।

मम्मों का महत्व इसलिए भी अधिक कि यह उन लोकप्रिय फिल्मों के विरूद्ध भी खड़ी है जो राष्ट्रवाद और देशभक्ति के नाम पर हिंदुस्तान और पाकिस्तान के बीच नफ़रत और विद्वेष को हवा देती है। जो लोगों में अपने ही पड़ोसी देश के प्रति घृणा का  प्रचार करती हैं, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच अब तक हुए छोटे-बड़े युद्धों की पृष्ठभूमि में बनी फिल्में इसी नफ़रत का व्यावसाय करती है। ऐसा करते हुए वे उन देशों में रहने वाले लोगों को प्रायः भूल जाती है वे यह भूल जाते है कि जंग में मारा जाने वाला सैनिक महज सैनिक ही नहीं होता। वह उसी समय किसी का बेटा, किसी का पति और किसी का पिता होता है उसकी बहादुरी की

कीमत उसके परिवार वालों को चुकानी पड़ती है, 'मम्मों' इन युद्धो से परे जाकर देखने की दृष्टि देती है।

**जख्म: हिंदू-मुस्लिम एवं साम्प्रदायिक दंगा-**

'जख्म' हिंदी सिनेमा की एक महत्वपूर्ण है। यह हिन्दी-मुस्लिम संबंध तथा साम्प्रदायिक दंगे जैसे मुद्दों को भी उठाती है तथा दूसरी तरफ अंतर धर्म विवाह तथा उससे उपजे पति-पत्नी के द्वंद्व के बीच सिसकते बचपन के कारूणिक दास्तान से। फिल्म शुरू होती है, न्यूज रिपोर्टर की आवाज से जो शहर के मिजाज को बताती है।शहर में पिछले कई दिनों से शुरू हुए साम्प्रदायिक दंगों ने धीरे-धीरे एक गंभीर रूप ले लिया है। मुंबई में दंगों की असली शुरूआत तब हुई जब बावरी मस्जिद गिरा दी गयी इस घटना से नाराज लोगों ने राधाबाई चाल जोगेश्वरी में आग लगा दी। कर्फ्यू में सांय-सांय करता शहर, सायरन बजाती पुलिस की गाड़ियां ऐसे ही बारूद भरे समय को व्यक्त करने के लिए कमलेश्वर ने 'कितने पाकिस्तान' में ये पंक्तियां रखी होगी, 'इन बंद कमरों में मेरी सांस घुटी जाती है/ खिड़कियां खोलता हू तो जहरीली हवा आती है।

इस साम्प्रदायिक दंगों सैकड़ों लोगों की जानें ली। इस घटना के पीछे खतरनाक राजनीतिक ताकतें काम कर रही थीं। जख्म फिल्म की कथा थोड़ा हटकर है। यह विवाहेतर संबंध तो है ही लेकिन इसके अलावा हिंदू पुरूष, पुलिस स्त्री के बीच का रिश्ता और उससे पैदा होने वाले तनाव फिल्म के मुख्य रूप से केन्द्र में है। दिलचस्प बात है यह मुस्लिम मां की कोख से पैदा हुआ हिंदू पिता का बेटा जो पिछले तीन दशकों में हुए सामाजिक धुर्वीकरण के चलते धार्मिक रूप से कट्टर बन चुका है कभी जान ही नहीं पाता कि साथ रह रही उसकी मां हिंदू नहीं मुस्लिम है। मालूम पड़ने पर जब बलवाई उसके घर पर हमला करते है तब लगभग

वहीं दृश्य निर्मित हो जाता है जो साठ के दशक में विभाजन की पृष्ठभूमि पर बनी वी.आर. चोपड़ा की 'धर्मपुत्र' से निर्मित हुआ था। फिल्म एक सुलगते हुए मुद्दे को वेहद संवेदनशील के साथ रखती है। इस फिल्म का एक-एक संवाद एक-एक दृश्य इस तरह से घुला हुआ है कि दोनों एक दूसरे को अर्थात् संवाद-दृश्य और दृश्य संवाद को सघनता प्रदान करते है पूरी फिल्म एक अजीब  तनाव भरे माहौल में चलती है। जो कहानी की मांग है। इस फिल्म सिनेमाई संरचनात्मकता कमाल का है कि फिल्म दर्शक एक-एक पल वेचैन करती रहती है। यह बेचैनी ही फिल्मकार की सफलता है।

## अर्थ '1947' फिल्म में स्त्री की भूमिका -

फिल्म अर्थ '1947' (1998) एक ऐसी फिल्म है जिसमें केवल 'भारत पाकिस्तान के विभाजन के समय की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों को ही चित्रित नहीं किया गया बल्कि इंसानी रिश्तों में बदलाव और उस समय महिलाओं के साथ किस तरह का सलूक मजहब के नाम पर किया गया है उसे भी इस फिल्म का हिस्सा बनाया फिल्म की कहानी 'वापसी सिधवा' में नावेल पर बेस्ड हैं, जिसमें भारत-पाक के बंटवारे के बाद हिंदू मुसलमान के मजहवों को लेकर किस तरह मुसलमानों को पाकिस्तान और हिंदुओं को हिंदुस्तान जाने का फरमान दे दिया गया था। उस एक फैसले ने कैसे लाखों लोगों की जान ली और कितनी ही महिलाएं अपने घर से बेघर होकर बाजारों की शोभा बन गयी या उनका धर्म परिवर्तन कराकर धर्म के ठेकेदारों ने उनका शोषण किया। इन सब मुद्दों को बहुत ही गंभीरता  से फिल्म में प्रदार्शित किया गया है।

फिल्म की कहानी 8 वर्षीय लड़की 'जेनी' से शुरू होती है। जो एक अमीर पारसी परिवार की लड़की है और ये पारसी परिवार लाहौर में रहता है। लाहौर में इस वक्त इस बात की हलचल है कि जल्दी ही देश को आजादी मिलने वाली है और लाहौर से सारे हिंदू और सिक्खों को जाना पड़ेगा क्योंकि भारत-पाक के बंटवारे के बाद लाहौर में मुसलमानों की तादात ज्यादा है नेनी के घर में काम करने वाली शांता (नंदिता दास ) उसकी देखभाल करती है। और नेनी उसके साथ बहुत घुली-मिली हुई है। शांता रोज नेनी को लेकर अपने दोस्तों के पास जाती है जिसमें हर मजहब के लोग शामिल है, इन लोगों में आपसी प्रेम और भाईचार अभी भी कायम है हालांकि कभी-कभी देश के बंटवारे को लेकर तू-तू मैं-मैं हो जाती है फिर भी ये सब मुश्किलों में एक-दूसरे के साथ रहने का वादा करते है। फिल्म की मेन थीम टिकी है। दिल नवाज (आमिर खान) आइस कैंडी वाला, हसन (राहुल खन्ना) मालिश वाला दोनों शांता को पसंद करते है लेकिन जैसे- भारत पाकिस्तान के बंटवारे से विभिन्न मजहवों के लोगों में तानातनी बढ़ती रहती है। वैसे इनके आपसी रिश्तों में भी दूरिया आती जा रही है। फिल्म के एक दृश्य में चित्रित किया गया है कि 1947 के बंटवारे से पहले ही हिंदूमुस्लिम और सिखों के आपसी रिश्तों में तनाव कैसे आते जा रहे थे, दिलनवाज पूरी तरह से मुसलमानों के हक में है और वो लाहौर पर मुस्लिमों का ही दबदबा मानता है उससे जब शेर सिंह ये पूंछता है कि सिक्खों की आधी जमीन पर मुसलमानों का कब्जा है और आधी पर हिंदुओं का तो सिख कहां जायेंगे....।

तो दिलनवाज कहता है कि हिंदुओं का पक्ष लेना छोड़ों और हमारे साथ आ मिलो, इससे तुम लोगों को लाहौर में पनाह मिल जाएगी। फिल्म में इन दृश्यों के माध्यम से ये दिखाया गया है कि एक साजिश तो राजनीतिक गलियारों में उन नेताओं के बीच चल रही थी जो सियासत को हथियाने के लिए एक ही देश को दो टुकड़ों में बांटने को तैयार थे और एक

साजिश विभिन्न धर्मो के लोगों मे चल रही थी कि कौन किस तरफ रहेगा अगर सिख हिंदुओं का साथ देते है तो उन्हें हिन्दुस्तान जाने का अधिकार है और अगर मुसलमानों का साथ देते है तो उन्हें लाहौर में पनाह मिल सकती है।

दीपा मेहता अपनी इस फिल्म में इंसानी रिश्तों के विभिन्न रंग प्रस्तुत करती हैं दिलनवाज के माध्यम से वो दिखाती है कि हर आदमी के अंदर एक जानवर छुपा रहता है- जैसे ही उस जानवर को बाहर आने का अवसर मिलता है वो अपनी हैवानियत का परिचय दे देता है। देश आजाद होने के अगले ही दिन जब मुसलमानों लाशों से भरी ट्रेन लाहौर पहुंचती है और उन लाशों में दिलनवाज की वाहनों की लाशें अपत्तिजनक स्थिति में मिलती है तो उस वक्त दिलनवाज के अंदर का जानवर जाग जाता है। लाहौर में जितने हिंदु ओं के घरों में आग लगती है या हिंदुओं को मारा जाता है इस पर उसे खुशी मिलती है। अपने शांता को देखकर उसे ये एहसास भी होता है कि वो शायद गलत कर रहा है। इसलिए उससे कहता है कि ''मेरे अंदर का जानवर न जागे इसलिए तुम मेरे साथ शादी कर लों'' शांता इस बात से इंकार कर देती है क्योंकि वो हसन को पसंद करती है हसन मुसलमान होते हुए भी मानवता का साथ दे रहा है। उसके लिए आज भी हिंदु सिख सब उसके भाई है। शांता का खिचाव हसन की ओर इसलिए है क्योंकि वो अभी भी आपसी भाई-चारे और प्रेम में विश्वास करता है।

**मानवता से बढ़ कर मजहब-**

'अर्थ' में विभाजन के समय की अनेक त्रासदियों को चित्रित किया गया है। एक तरफ दिलनवाज की हैवानियत, दूसरी तरफ हसन की इंसानियत जो उसे अपने ही लोगों द्वारा मार डालती है। एक ओर लाहौर में रहने के लिए वहां के हिंदुओं और सिखों का ईसाई या मुलमान बनना, दूसरी ओर लोगोंके अंदर का डर उनकी इंसानियत को कैसे पिघला देता है। कि वो

अपनी छोटी-छोटी बच्चियों की शादी साठ साल के बुजुर्ग से करने के लिए विवश हो जाते है। भारत-पाकिस्तान के बंटवारे पर कुछ फिल्में बनी है जैसे- 'गर्महवा', 'तमस' ट्रेन टू पाकिस्तान' आदि ये सभी फिल्में अपने तरीके से भारत पाक बंटवारे को अलग रूप में प्रस्तुत करती है लेकिन दीपा मेहता ने इस फिल्म में सिर्फ भूमि के दो टुकड़े होते नहीं दिखाए बल्कि कितने दिलों टुकड़े होते है इसको भी चित्रित किया है।

दीपा मेहता की शायद ये ऐसी पहली फिल्म जिसमें विभाजन में होने वाले खून-खराबे पर बात नहीं की गयी बल्कि उन मानवीय संबंधों को भी घायल होते हुए दिखाया है जो धार्मिक सांचे से बाहर आकर मानवीय संवेदना का जीवन जीना चाहते हैं जो जाति के बंधनों से मुक्त होकर प्रेम का जीवन जीना चहाते है लेकिन दिलनवाज जैसे लोग धर्म को मानवीय रिश्तों के आड़े लाकर खड़ कर देता है और कई जिंदगियां बर्बाद कर देते हैं। फिल्म में हसन, शांता और छोटी बच्ची नेनी दिलनवाज हैवानियत का शिकार होते हैं। फिल्म के जरिए दो प्रश्न हमारे सामने खड़े होते है कि आज भी इस समाज में कितने दिलनवाज होंगे। जो मानवता को मजहब के आगे कुचल देते होंगे। और दूसरा से शांता जैसी उन हजारों औरतों का क्या हुआ होगा जो विभाजन की इस चक्की में पिसी होगी। इन सवालों के जबाव न तब थे और न अब हैं।

फिल्म के आखिर में नेनी के ये शब्द ''आजादी के पचास साल बाद भी मुझे ऐसा लगता है कि मेरी शरीर का एक अंग उस विभाजन में मुझसे हमेशा के लिए जुदा हो गया'' ये दर्शाता है कि आजादी के पहले में जो बंटवारा हमें मिला वो बंटवारा हमें हमेशा ये महसूस करता रहेगा इस आजादी से हमने कुछ पाया नहीं बल्कि अपने शरीर का एक अंग खोया है

और उसकी वजह से हम हमेशा पंगु बने रहेंगे क्योंकि वो अंग वापिस हमारे शरीर का हिस्सा नहीं बन पायेगा।

## 'नसीम' मुस्लिम विरोधी सामाजिक वातावरण-

''नसीम फिल्म बाबरी मस्जिद गिराऐ जाने के पृष्ठभूमि में बनी लघु फिल्म है। फिल्म के इंट्रो में लिखा है कि, इस ऐतिहासिक दुर्घटना ने लंब वक्त तक का बीज बोया, समाज को दो भागों में बांट डाला (''उस एक हादसे ने भारतीय इतिहास का एक दौर खत्म कर दिया... जो शायद कभी लौटकर नहीं आएगा।'') यह फिल्म मस्जिद गिराए जाने के पूर्व बनते राजनीतिक माहौल, मुस्लिम विरोधी सामाजिक वातावरण के दरम्यान एक मुस्लिम परिवार की अस्तित्व की चिंताओं मानसिक उथलपुथल और प्रताड़ना को रेखांकित करती है। जय श्री राम के उन्मादी शोर के बीच सज्जाद (कुलभूषण खरवंदा) कहते है कि ''कहां जाए भाई हम तो यही के है।'' सज्जाद अपने बीमार पिता अख्खत (कैफी आजमी) से सवाल करता है कि ''अब्बा बंटवारे के वक्त आप पाकिस्तान क्यों नही चले गए?

दादा जी कहते है कि आगरे में उनकी पुश्तैनी मकान के सामने जो दरख्त था, उसकी मां को बेहद पसंद था। ''सज्जाद तुम्हें याद है, आगरे में अपने घर के सामने एक पेड़ था। याद है ना? पसन्द था....खासतौर से तुम्हारी अम्मी को।''

इसी से संकेतात्मक रूप फिल्म एक बड़े सवाल का ठीक उसी तरह जबाव देती है जैसा 'आधा गांव' (राही मासूम रजा) के जुम्मन मिया का जबाव। फिल्म जून 1992 से लेकर 6 दिसम्बर 1992 की अवधि को अपना सामामिक आधार बनती है। फिल्म में एक किशोरी लड़की नसीम (मयूरी कांगो) के बहाने तत्कालीन भयावह साम्प्रदायिक माहौल की पुर्नरचना

करती है। प्रगतिशील शायद कैफी आजमी साहब की अदाकारी भी उनकी सृजनात्मकता की उंचाई का नमूना है।

चरित्र द्वारा कहानी कहना- फिल्म में बहुत सारी बाते प्रतीकात्मक तौर कही गयी है, मसलन पूरी फिल्म में बिस्तर पर असमर्थ पड़े बीमार दादा जी केा 5 दिसम्बर को एकाएक खड़े दिखाया गया है पोती नसीम से कहते हैं- ''मुझे ठण्ड लग रही है।'' और उसी रात उसकी मृत्यु! 6 दिसम्बर को जहां मस्जिद गिराने की खौफनाक खबरे आती है, वही नसीम के घर से दादा जी का जनाजा निकलता है। जफर (के.के. मेनन) कह उठता है ''आपने जाने के लिए बिल्कुल ठीक समय चुना है दादा जी।''

दरअसल दादाजी आजादी की लड़ाई के दौर के वो इंसान रहे हैं, जब दोनों समुदायों की एकता और मोहब्बत मिसाल हुआ करते थे। उसके दौर में मुसलमान घरों में हिंदू दोस्त भी अजीज होते थे बल्कि मुसलमान-नियाज अख्तर भी संस्कृत सीखता था। चाव से मित्रों से संस्कृत में बातचीत भी करता था। मस्जिद का टूटना उस साझी संस्कृति के मजबूत किले ढहना है। सौहार्द का मानवीकरण 'दादाजी' करते रहे ता-उम्र मस्जिद का टूटना और उनका पार्थिव शरीर छोड़ना, फलतः इसी का संकेत है कि हमने इस गंगा-जमुनी विरासत की आत्मा को मार डाला था इसे मरणान्तक चोट पहुचाई है।

फिल्म में मुस्लिम युवाओं की बढ़ती बेचैनी, हताशा और इससे पैदा गुस्सा भी काफी जीवंत पेश हुआ है। नसीम का मुशताक गुस्से में दादा जी को अनाप शनाप बोलता है। ''वहां अयोध्या में लाखों लोगों की भीड़ जमा है मगर आप किस्सा सुनायेंगे... वो कह रहे कि ये जगह हमारी है, हमको दे दो। मगर आप किस्सा सुनायेंगे। कुछ दिन बाद वो लोग यहां हमारे घर पर आयेंगे और कहेंगे कि ये घर हमारा है तो फिर कहां जायेंगे आप? आप और आपके ये

शायर दोस्त क्या नाम है इनका... आप समझते क्यों नही है दादा जान, आपके किस्सों का वक्त अब खत्म हो चुका है।

दादा जी नसीम को अपने वक्त के किस्से सुनाया करते हैं, उनमें साझी संस्कृति का सार होता है नसीम अपने दादा के बहुत करीब है।

मुसलमानों ने असुरक्षा की भावना--- जफर व मुश्ताक जैसे मुस्लिम युवा मानते है इस देश के दंगों में मुसलमान ही मारे जातेहैं और जानबूझकर उनकी मौतों आंक्ड़े छुपाये जाते है दादा जी समझाते है कि ऐसा सोचना सही नहीं है। गरीब मरता है हर दंगे में ना कि मुसलमान। जफर का तर्क है कि मुसलमान को इस मुल्क में जान बूझकर गरीब बनाया गया है।

ईद के मौके पर दादा जी जब शायरी सुनाते है उसका दोस्त जफर फैज की शायरी'' जजा सजा सब यहीं पे होगी/ यही अजाब-ओ-सबाव होगा। यहीं से उठेगा सारे मशहर/ यहीं पे रोज हिसाब होगा।''

**'मजहब पर राजनीति-**

फिल्म इस बात की पड़ताल भी करती है कि भारत जैसे विकासशील देश में गरीबी, आशिक्षा, मूलभूत सुविधाओं के अभाव के बीच जीने वाली भूखी अंधविश्वास की मारी और पुरूष वर्चस्व वाले सामंती सामाजिक ढांचे में पिसती आम जनता को क्या अपने रोजाना तकलीफों के बजाय मंदिर-मस्जिद के सवाल पर सोचने की फुर्सत है? दरअसल भारतीय मध्यवर्ग चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान एक ही तरह के सामाजिक-आर्थिक संत्रास में जीता है नसीम की दोस्त जोया का प्रसंग हो या फिर पार्वती मामी की गरीबी, अंधविश्वास स्त्री का दोहन

हर समुदाय की साझी समस्याऐं, मगर राजनीतिक नेतृत्व इन सबकी बात करने के बजाय लोगोंके बीच धार्मिक उन्माद को बढ़ावा देता है। सत्ता का यह ग्रहीत खेल बदस्तूर जारी है। सहज ही समझा जा सकता है कि किस प्रकार मेहनतकश आम जनता की जिंदगी में साम्प्रदायिक पागलपन फैलाकर अस्मिता और नागरिकता की यह कशमकश पूरे भारतीय मध्यवर्गीय मुसलमान की नियति बना दी जाती है।

साल 1998 में पामेला रूक्स ने यशवंत सिंह के उपन्यास **''ट्रेन टू पाकिस्तान''** पर इसी नाम से फिल्म बनाई यह फिल्म बंटवारे से पूर्व और बटवारे के बाद भारत-पाकिस्तान सीमा पर सतलुज नदी के किनारे बसे मानो 'मजरा' नामक शांत सरल पंजाबी गांव के हालात का बयान करती है। और दिखाती है कि 1947 के बाद सिख-मुस्लिम बाहुल्य वाले इस गांव की सोच और विचारधारा किस प्रकार बदल गयी।

गुलजार की फिल्म **'माचिस'** जिसमें आतंकवाद से त्रस्त अस्सी के दशक के पंजाब का चित्रण किया गया था और उन परिस्थितियों का अंकन किया गया था। जिनके कारण पंजाब के कुछ नौजवानों को हथियार उठाने पर विवश होना पड़ता है।

**इंसानियत का रिश्ता---**

रवीन्द्र नाथ ठाकुर की कहानी 'काबुलीवाला' पर फिल्म का बनाया जाना भी इसी सच्चाई को दर्शाता है। 'काबुलीवाला' हालांकि हिंदू-मुस्लिम संबंधों की कहानी नहीं है लेकिन फिल्म बताती है कि मनुष्य चाहे जिस किसी धर्म का क्यों न हो अपने पतन से और अपने लोगों से बिछुडना उसके लिए कम यातना दायक नहीं होता है काबुली वाले (बलराज साहनी) का काबुल में रहने वाली अपनी बेटी को याद करते हुए कलकत्ते के एक हिंदू बंगाली बेटी से स्नेह दर्शाना और उसमें अपनी बेटी को तलाशना उसके इसी दर्द को दर्शाता

काबुलीवाला अपने घर परिवार का पेट पालने के हजारों मील दूर कलकत्ता में रह रहा है और यहां भी एक अन्याय को देखकर चुप नहीं रहने के कारण उसे हत्या  के जुर्म में कई साल जेल में बिताने पड़ते हैं।

एक पिता के रूप् में काबुली वाले की मनोदशा को क्या कहानी पढ़ने वाले पाठक या फिल्म दर्शक महसूस नहीं कर सकता? यहां काबुली वाले का मुसलमान होना महत्वपूर्ण हैया उसका गरीब पिता होना? यह एक बड़ा सवाल है, जिसे साम्प्रदायिकता भूल जाने को कहती है। वह हर मुसलमान को मुसलमान की तरह और हर हिंदू को हिंदू के रूप में ही देखे जाने के लिए मजबूर करती है।

**हिंदू बनेगा या मुसलमान बनेगा' ----**

यश चोपड़ा निर्देशित फिल्म **"धूल का फूल"** का मुस्लिम पात्र अब्दुल रशीद यही सवाल उठाता है वह एक ऐसे बच्चे को पालता है जिसे उसकी हिंदुओ  समाज के डर के कारण त्याग दिया है। कबीर की तरह उसका लालन-पालन एक साधारण मुस्लिम के यहां होता है। वह बच्चा हिंदू है या मुसलमान? हिंदू माता पिता की संतान होने से वह हिंदू है और मुस्लिम पालनकर्ता के कारण मुसलमान। लेकिन अब्दुल रशीद उसे हिंदू और मुसलमान होने का पाठ नहीं सिखाता है। धूल का फूल के मूल कथानक का संबंध मुस्लिम समाज से नहीं है लेकिन फिल्मकार स्पष्ट मकसद के साथ कहानी में अब्दुल रशीद का चरित्र लाता है और साम्प्रदायिक सद्भाव  का संदेश देता है लेकिन वह साम्प्रदायिक सद्भाव नहीं है। जो सभी धर्मो के बीच सद्भाव तक ही सीमित रहती है साहिर लुधयानवी के गीत का बल हिंदू व मुसलमान होने से ज्यादा इंसान होने पर है।

हिंदी फिल्मों में लगातार देख सकते हैं कुछ फिल्मों में महत्वपूर्ण मुस्लिम पात्र हुआ करते हैं। जैसे फिल्म 'जंजीर' में शेर खान पठान का चरित्र है जो दोस्ती के लिए अपनी जान कुर्बान करने का जज्बा रखता है। तथा 'शोले' फिल्म में गरीब बूढ़े मुसलमान के एकलौते जवान बेटे को डाकू मार डालते हैं, तब भी वह गांव के लोगों की कायरता भरी बातों का विरोध करता है और इस बात का अफसोस जाहिर करता है कि उसका एक ही बेटा क्यों था। हिंदी फिल्मों में इस तरह के चरित्र बहुत जाने पहचाने है। गुरूदत्त की फिल्म 'प्यासा ' में चंपी करने वाले अब्दुल सत्तार (जानी वाकर)। 'मिर्च मसाला' का चौकीदार (ओमपुरी) ऐसे ही मुस्लिम चरित्र है जो फिल्म में अहम भूमिका निभाते है। उनकी मुफालिसी और मामूलीपन के बावजूद उनके चरित्र की उंचाइयां उन्हें गैरमामूली बनाती है।

**धार्मिक पहचान बुनियादी पहचान नहीं है?---**

1980 से पूर्व की बहुत कम फिल्में ऐसी हैं जिसमें मुख्य पात्र हिंदू हो और उसमें मुस्लिम चरित्र भी उसी मूल कथानक का हिस्सा हो। 1961 में वी. आर. चोपड़ा की फिल्म 'धर्मपुत्र' हिंदू मुस्लिम संबंधों पर आधारित उल्लेखनीय फिल्म है, जो बाक्स आफिस पर कामयाब नहीं हो सकी। यह पहली फिल्म है जो रवीन्द्र ठाकुर के प्रख्यात उपन्यास 'गोरा' की तरह यह बताती है कि धार्मिक पहचान बुनियादी पहचान नहीं है बल्कि थोपी हुई पहचान है। इस फिल्म का मुख्य पात्र जो मुसलमान होता है लेकिन उसका लालन पोषण हिंदू परिवार में होता अपने को हिंदू ही मानता है और वह हिंदू ही नहीं सम्प्रदायिक नजरिए वाला हिंदू है लेकिन जब उसे मालूम पड़ता है वह तो जन्म से ही मुसलमान है तो उसके नीचे से जमीन खिसक जाती है इस फिल्म में पहली बार मुस्लिम नायक और हिंदू नायिका के बीच प्रेम और विवाह को दर्शाया गया है।

**समाज के मुख्यधारा में आने की कोशिश----**

1963 में बनी फिल्म 'मुझे जीने दो' इस तरह की फिल्म है जिसमें नायक हिंदू है और नायिका मुसलमान हैं उन दोनों का विवाह भी हो जाता है जो हिंदी फिल्मों में अभी हाल तक लगभग असंभव बात मानी जाती रही है। लेकिन इस फिल्म के नायक और नायिका दोनों ही समाज से वहिर्गत है। नायक डाकू हैं और नायिका तवायफ। नायक तवायफ से विवाह कर उसे सामाजिक रूप में सम्मान दिलाता है और नायिका उसे डाकू जीवन छोड़कर शराफत की जिंदगी जीने के लिए प्रेरित करती है।

**पर्दा प्रथा एवं अभिजात्य वर्ग----**

1990 से पूर्व बनी वे फिल्में जिनमें कथानक मुस्लिम जीवन पर केन्द्रित वहां समस्या उनके मुसलमान होने से पैदा नहीं होती। कुछ बदलाव के साथ वे भारत जैसे किसी भी धार्मिक और भाषाई समाज की कृपा हो सकती है। गुरूदत्त की लोकप्रिय 'चौदहवीं का चाँद ' का कथानक मुस्लिम जीवन पर आधारित है यह मध्यवर्गीय दो दोस्तों की कहानी है दोनों एक ही लड़की से प्यार करते है नायक जो सहनायक नाबाब के एहसानों तले दबा हुआ है यह जानकर कि वह जिस लड़की जमीला से प्यार करता है। वह और कोई नहीं उसकी अपनी बीवी है तो वह दोस्त के लिए अपनी बीवी को तलाक देने की योजना बनाता है ताकि वह उससे शादी कर सके। जब नवाब को मालूम पड़ता है कि वह जिस लड़की के पीछे दीवाना है उसके दोस्त की बीवी है तो वह उससे शादी करने की बजाएं खुदखुशी कर लेता है। प्यार के त्रिकोण पर आधारित यह फिल्म दरअसल पर्दा प्रथा के विरोध को कथानक का आधर बनाती है। जमीला की एक झलक देख लेने के बाद नवाव का इस तरह उसके पीछे दीवाना होना,

इसीलिए संभव होता है क्योंकि पर्दाप्रथा के कारण उसे यह जानने का मौका ही नहीं मिल पाता कि उसके अपने पड़ोस में रहने वाली औरते मौन है या उसके  दोस्त की वीवी कौन है जाहिर है कि पर्दाप्रथा भारतीय उपमहाद्वीप में एक गंभीर समस्या रहा है। यह हिंदू और मुस्लिम समाजों में खासतौर पर उच्च अभिजात वर्गो में सामंतवाद के प्रभाव का द्योतक रहा है।

**प्रशासन में मुस्लिम अधिकारी को शक की नजर से देखना----**

'फिजा' और 'मिशन कश्मीर' मुस्लिम समुदाय पर आतंकवाद के असर को दिखाती है फिजा एक लड़की की कहानी है जिसका भाई बाबरी मस्जिद के बिध्वंस के बाद दंगों के कारण आतंकवाद की गिरफ्त में आ गया है इन दंगों ने उसे अपने परिवार से और अपने प्यार से जुदा कर दिया है। 'मिशन काश्मीर' का नायक इसलिए आतंकवादी बन जाता है क्योंकि उसके परिवार वालों की हत्या हिंदुस्तानी पुलिस के हाथों हो जाती है इस फिल्म में देशभक्त मुस्लिम पुलिस अधिकारी को हर समय संदेह की नजर से देखा जाता है ये महज संयोग नही है इस दौर में बनने वाली किसी भी फिल्म वह पहले वाला मुस्लिम समाज नजर नही आता है। जिसे 'चौदहवीं का चांद', 'पाकीजा', 'बहुबेगम', 'बरसात की रात', 'मेरे महबूब', जैसी फिल्मों में देखता आया था। वह रूमानियत व सामंती वैभव अब नजर नही आता है। यहां तक 'जुवैदा' व 'सरदारी बेगम' जैसी फिल्मों के उच्च वर्गीय चरित्र भी गहरे विषाद और उदासी में खोए नजर आते है विभाजन की त्रासदी और फिरकापरस्ती  की आग सब कुछ खो देने का डर जैसे इनके जीवन और इनके पात्रों पर हर समय मंडराता नजर आता है।

इस त्रासदी को हम उन फिल्मों में कहीं ज्यादा गहराई से देख सकते है, जिसमें हिंदु और मुस्लिम समाज दोनों एक साथ मौजूद है पिछली बार हम एक साथ बहुत सी फिल्में देखते हैं जिसमें हिंदू और मुसलमान लड़के और लड़की एक दूसरे से प्यार करते हुए दिखाये गए हैं।

'जुवैदा', 'जख्म', फिजा', 'दहक', 'कच्चे धागे', 'बाम्बे' 'मिशन काश्मीर', 'गदर एक प्रेमकथा', पिंजर, 'वीरजारा', 'जोधा अकरबर', 'दिल्ली-6', 'न्यूयार्क, 'आलू चाट', 'माइनेम इज खान' (2010) जैसी कई फिल्मेां के नाम गिनाए जा सकते है।

**फिल्मों में हिंदू-मुस्लिम-रिश्ते-----**

'फिल्म जुबेदा ' में जुवैदा पहले पति से तलाक के बाद एक राजपूत राजा से विवाह करती है। फिंजा की नायिका फिंजा से एक हिंदू लड़का प्यार करता है और वह तय नहीं कर पाती वह उससे शादी करे या नहीं। 'दहक' की तो पूरी कहानी ही हिंदू लड़के और मुस्लिम लड़की के प्यार पर टिकी हैं जिसकी परिणति दोनों समुदायों के बीच जबरदस्त दंगे में और दोनों में हत्या होती है। 'कच्चे धागे' में दो भाई एक ऐसे पिता की संतान है जिसकी एक पत्नी हिंदू और एक मुसलमान है और इसी कारण से एक भाई मुसलमान और एक भाई हिंदू। बाम्बे का नायक हिंदू और वह एक मुसलमान लड़की से प्यार करता है और उससे शादी करता है। उसके दो मासूम बच्चे 1992-93 के बंबई के दंगों में जिंदा जला दिए जाते है। 'मिशन काश्मीर' में पुलिस अधिकारी की पत्नी हिंदू है और वह नायक जो मुसलमान है, को अपने बच्चे की तरह प्यार करती है और वह बच्चा भी उसे अपनी मां की तरह मानता है। यह पत्नी बाद में आतंकवादी हमले में मारी जाती है।

'गदर एक प्रेम कथा' में नायक सिख है और नायिका मुसलमान इसी कड़ी में नीवनतम फिल्म 'माइ नेम इज खान का नायक मुसलमान और नायिका हिंदू।

लेकिन क्या महज इत्तफाक है कि एक ही दशक में इतनी सारी फिल्में हिंदु और मुसलमान के बीच प्रेम कर बन जाती है? जिस हत्या को अब तक पर्दे पर लाने का साहस नहीं किया गया था, वह अचानक सैलाब बनकर कैसे उमड़ पड़ा ? लेकिन ध्यान पर देखने से पता

चलेगा कि आरंभ में बनने वाली अधिकांश फिल्मों में लड़का हिंदू होता था और लड़की मुसलमान। यह कही न कही हिन्दू मानसिकता को तुष्ट करती थी यही नहीं बाम्बे और 'गदर एक प्रेम कथा' जैसी फिल्मों में तो मुस्लिम समुदाय के चित्रण पर भी हिंदू साम्प्रदायिक सोच का असर साफ देखा जा सकता है।

**उदार होता दर्शक-----**

हिंदुस्तान जैसे अर्ध सामंती समाजों में स्त्री की पहचान उसके पति से होती है यानि यदि लड़का हिंदू है तो बच्चे भी हिंदू होंगे और यदि मुसलमान होगा तो उसके बच्चे मुसलमान। इस तरह इन वैवाहिक संबंधों को दो सम्प्रदायों के बीच आपसी प्रेम संबंधों के रूप में देखे जानेके बजाय दूसरे धर्म पर अपनी उच्चता और जीत के रूप देखा जा सकता यही नहीं दूसरे धर्म की लड़की से शादी करने का मातलब एक तरह से उस स्त्री का धर्मांतरण है। बाद में 'मिशन कशमीर', 'पिंजर', 'जोधा अकबर', न्यूयार्क और 'माईनेम इज खान', जैसी फिल्में भी आयी। पिंजर में हिंदू लड़की पूरो को एक मुसलमान युवक राशिद जबरन उठा ले जाता है और बाद में पूरो उसी को अपना पति मान लेती है।

इसलिए प्रेम विवाह तो नही कहा जा सकता, लेकिन दूसरी फिल्मों में यह प्रेम के रूप में ही व्यक्त हुआ है। 'अकबर जोधा' जैसे ऐतिहासिक पात्रों को लेकर बनने वाली जोधा अकबर एक राजपूत राजकुमारी के एक मुस्लिम शासक से प्रेम को कहानी का कथ्य का बनाया जाना और उस फिल्म का अंत होना यह बताता है कि भारतीय दर्शक अब ऐसे मसलों पर ज्यादा साहिष्णु और उदार हुआ है। इसी तरह 'मिशन कश्मीर का पुलिस अधिकारी खान की भी पत्नी हिंदू होती है और फिल्म से साफ हे कि उनका प्रेम विवाह है 'न्यूयार्क' फिल्म का

नायक समीर (जान अब्राहम) माया (कैटरीना) नाम की लड़की से प्रेम करता है जो उसके साथ ही पढ़ती है बाद में उसी से उसका विवाह भी होता है। 'दिल्ली-6' फिल्म का नायक रौशन हिंदू पिता और मुस्लिम माता का बेटा है और वह एक हिंदू लड़की से प्रेम करता है। 'माई नेम इज खान' का नायक मुसलमान है जो एक तलाकशुदा हिंदू स्त्री से प्रेम करता है और बाद में दोनों विवाह कर लेते है, लेकिन इस हिंदु स्त्री का बेटा इसलिए मार दिया जाता है कि उसका पिता मुसलमान है इस तरह हिंदी फिलमों में अब हिंदू और मुस्लिम पति के बीच प्रेम और विवाह कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे दिखाने के पहले सोचना पड़े।

**मुस्लिम समुदाय में द्वंद्व---**

1990 के बाद की हिंदी फिल्मों में हिंदू और मुस्लिम समाज अपने-अपने दायरे में रहने वाले समाजों के रूप में नही, बल्कि ऐसे समाजो के रूप में पेश किए गए हैं जो मिलकर एक दुनिया बनाते है। इसलिए यह स्वाभाविक हैं कि उनमें आपसी प्रेम व संघर्ष दोनों तरह संबंध हो। यही कारण इन फिल्मों ने हिंदू और मुसलमान के बीच द्वंद्व की स्थिति साफतौर पर देखी जा सकती है। अतीत का इनका संबंध देश के विभाजन से है और वर्तमान में बावरी मस्जिद के विध्वंस उसके बाद होने वाले दंगों या समय-समय पर होने वाली आतंवादी घटनाओं से। आमतौर पर यह द्वंद्व मुसलमानों के लिए यातना और उतपीड़न के तौर पर दिखाया गया है। मुसलमान हर कही शक और संदेह की नजर से देखा जा रहा है उसकी देशभक्ति पर यकीन नहीं किया जाता (कच्चे धागे, मिशन काश्मीर, सरफरोश) वह विभाजन के लिए जिम्मेदार है (हे राम, रोजा) और अब फिर आतंकवाद के जरिए देश को विभाजित करना चाहता है।

हिंदू-मुस्लिम समस्या को फिल्मकार प्रायः तीन नजरिए से देख रहा है। कुछ फिल्मों में इसे राष्ट्रवादी नजरिए से देखा गया है तो दूसरी कुछ फिल्मों में इसे साम्प्रदायिक समस्या के रूप में देखा गया हैं तीसरी कुछ फिल्में ऐसी भी है जिनमें इसे हिंदुस्तान में मुस्लिम समुदाय की मौजूदा स्थिति के जरिए से देखा गया है। रोजा से लेकर 'ए वेडनस डे' तक ऐसी बहुत सी फिल्मे हैं जिनमें आतंकवाद और देश भक्ति को आमने-सामने रखा गया है और उसी के अनुसार मुसलमानों को भी दो भागों में विभाजित किया गया है। एक वे जो आतंकवाद के समर्थ है और इसलिए हिदुस्तान नामक राष्ट्र के विरोधी है ये वे मुसलमान है जो कट्टरवादी है और पाकिस्तान के साथ खेलते है। दूसरी ओर वे मुसलमान एवं राष्ट्रवादी है और इसी कारण उदार भी है और भारत नामक राष्ट्र की पाकिस्तान के साथ लड़ाई में वे संदेह नजर से देखे जाने के बावजूद देश के लिए अपना सर्वस्व त्यागने को तैयार है जाहिर है कि इन फिल्मों में इस तरह का विभाजन हिंदुओं के संदर्भ में नही किया जा अपनी देश भक्ति का प्रमाण मुसलमान को ही देना पड़ता है। 'गदर' जैसी फिल्में इस प्रवृत्ति को 1947 से भी जोड़ती है और बताती है कि जो समुदाय (मुसलमान) देश के विभाजन के लिए जिम्मेदार था वहीं आतंकवाद के लिए भी जिम्मेदार है। जाहिर है कि यह इतिहास का विकृतिकरण भी है और संम्प्रदायीकरण भी।

**हिंदू-मुस्लिम संबंधों में साम्प्रदायिकता का जहर---**

वे फिल्में जो हिंदू और मुसलमान के आपसी संबंधों के संदर्भ में साम्प्रदायिकता को सबसे गंभीर समस्या मानती है, वे इस सवाल को पहली तरह की फिल्मों के मुकावले ज्यादा बुनियादी रूप में उठाती हैं एक तरह मानवतावादी और धर्मनिरपेक्ष नजरिया आमतौर पर इस तरह की फिल्मों का आधार रहा है। जैसे- जख्म तथा फिजा में भी बढ़ती साम्प्रदायिकता,

आतंकवाद और मुस्लिम विरोध के माहौल एक मुस्लिम परिवार के सामने आने वाली मुश्किलों और चुनौतियों को कहानी का विषय बनाया गया है। 'हे राम' फिल्म अपनी पत्नी के बलात्कार और नृशंस हत्या से आहत एक हिंदू ब्राह्मण के हिंदू साम्प्रदायिक संगठनों यहां संकेत आर यस एस और हिंदू महासभा की तरफ है की गिरफ्त में फंस जाने की कथा कही गई है। 'न्यूयार्क', फिल्म का नायक समीर जो मुसलमान है। 1 सितम्बर 2001 को अमेरिका पर हुए आतंकवादी हमले के बाद केवल संदेह के कारण अमरीकी पुलिस द्वारा पकड़ लिया जाता है। और जब किसी तरह छूट के आता है तो वह आतंकवाद की तरफ मुड़ जाता है। 'मिशन कश्मीर' का नायक हो या 'हे राम' का नायक या 'फिजा' का या 'न्यूयार्क, का ये सभी कहीं न कहीं हालात से मजबूर होकर एक या दूसरे तरह के आतंकवाद के शिकार हो जाते है।

**गुजरात के बढ़ते फासीवाद कदम---** गुजरात की 2002 की घटनाओं ने कुछ फिल्मकारों को प्रेरित किया कि वे अपनी फिल्मों के माध्यम से साम्प्रदायिकता के सवाल को राज्य और पुलिस संदर्भ में देखा जा सकता है।

**साम्प्रदायिकता में पुलिस का चरित्र---**

इस दृष्टि से 'खाकी' (निर्देशक राजकुमार संतोषी) 'देव' (निर्देशक गोविंद निहलानी ) पर विचार करना रोचक होगा। 2004 में बनी 'खाकी' और 'देव' दोनों फिल्मों का संबंध आतंकवाद और साम्प्रदायिकता से है और दोनों फिल्मकारों ने इसके लिए पुलिस तंत्र के कामकाज को कथा का आधार बनाया है। साम्प्रदायिकता और आतंकवाद जैसे मसलों से पुलिस किस तरह निपटती है और इस प्रक्रिया में 'उसका किस तरह का चेहरा का सामने आता है, इसे दोनों फिल्मों में समस्या के रूप में पेश किया गया है। संयोग से दोनों फिल्मेां में अमिताभ बच्चन ने वरिष्ठ पुलिस अफसर की भूमिका निभायी है जो दोनों फिल्मों का केन्द्रयी

चरित्र है। 'खाकी' में डी.सी.पी तथा देव में जे. सी. पी। ये दोनों पद छोटे पद नहीं होते है। इस पद पर कार्य करने वाले अधिकारी को प्रायः खुद फैसले लेने होते है। और अपने से बड़े पद वाले अधिकारियों और राजनेताओं के दबाव भी मिलने लगते है। जाहिर है कि एक ईमानदार पुलिस वाले के लिए इन पदों पर कार्य करते हुए काफी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। गोविंद निहलानी ने इस मुद्दे को 'अर्धसत्य' में उठाया था। ईमानदारी का यह मसला निहलानी ने देव में एक वार फिर उठाया है। लेकिन संदर्भ पहले से अलग है और पहले की तुलना में कही ज्यादा चुनौतीपूर्ण है। इस बार उन्होंने साम्प्रदायिकता में लिप्त राज्य व्यवस्था में काम करना किसी ईमानदार और संविधान के प्रति प्रतिबद्ध पुलिस वालों के लिए कितना मुश्किल होता है, इसे विषय बनाया है। भ्रष्ट और ईमानदारी में से चुनाव में नैतिक दुविधा नहीं होती। लेकिन साम्प्रदायिकता राष्ट्रवाद और बहुसख्यक जनता के हित की आड़ लेकर हमला करती है। वहां भटकने और निर्णय लेने के ज्यादा अवसर होते है, तब और भी ज्यादा जब इस साम्प्रदायिकता विचारधारा का प्रभाव खुद पुलिस तंत्र में गहरे रूप में पैठ चुका हो।

**गैर मुस्लिम साम्प्रदायिकता---**

'खाकी' में जिस राजनीति की तरफ इशारा किया गया है वह हिंदू साम्प्रदायिकता राजनीति है जो अंग्रेज जैसे भ्रष्ट पुलिस अधिकारियों की मदद से साम्प्रदायिकता और आतंकवाद को भड़काने की कोशिश करते है। 'खाकी' यह कहने का प्रयास करती है कि पुलिस आतंकवादी कहकर जिनको पकड़ती है या मुठभेड़ का नाम देकर जिन्हें मारती है वे जरूरी नहीं है कि वास्तव में आतंकवादी हो लेकिन भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में राजसत्ता और उसके तंत्र के शिकार बने लोगों के लिए न्याय पाना बहुत मुश्किल होता है। 'खाकी'

बताती है मुसलमानों को आतंकवादी और देशद्रोही साबित करने में साम्प्रदायिक राजनीतिक संगठन ही नहीं पुलिस, मीडिया और उच्च पदों पर बैठे अधिकारी भी शामिल है। इकवाल अंसारी का लगातार चुप रहना 'आक्रोश' फिल्म के लहडीया  की याद दिलाता है जो पूरी फिल्म में इसलिए चुप रहता है कि उसे विश्वास नहीं कि उसे न्याय मिलेगा। यह क्या महज संयोग है कि फिल्मों में मुलसमान और आदिवासी पात्रों को इस न्याय व्यवस्था पर विश्वास खो चुके चरित्रों के रूप मे  प्रस्तुत किया गया हैं? क्या यह यथार्थ की ही अभिव्यक्ति नहीं है? खाकी में डीसीपी अपनी ईमानदारी के बावजूद इस यकीन के साथ अंसारी को साथ लेकर चंदनगढ़ से मुंबई के लिए रखाना होता है कि वह सचमुच आई.एस.आई का एजेंट है और इसीलिए देशद्रोही है। अंसारी की चुप्पी उसके इस यकीन को पुख्ता ही करती है लेकिन। जब उसे असलियत मालूम होती है तो व्यवस्था का घिनौना और खतरनाक चेहरा सामने आ जाता है। अब उसके सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह उपस्थित होता है  कि वह इकबाल अंसारी को न्याय और गुनहागारों को सजा कैसे दिलवाए।

अपनी इस कोशिश में इकबाल अंसारी को तो बचा नहीं पाता लेकिन उस पर और उसके परिवार पर लगा देशद्रोही लेने का दाग मिटाने में जरूर कामयाब हो जाता है। साथ ही वह उस मंत्री और पुलिस अधिकारी के खिलाफ सबूतों की वह फाइल भी हासिल कर लेता है जो इकवाल अंसारी के पास थी। वह उन्हे  दिलाने में भी कामयाब हो जाता है।

'खाकी' की तुलना में 'देव' फिल्म की कहानी अधिक जटिल और यथार्थ के अधिक करीब लगती है। देव में भी  अल्पसंख्यकों के प्रति राज्य व्यवस्था के रवैए को कहानी का आधार बनाया है। फिल्म देखने से पता चलता है कि गुजरात में 2002 में हुई घटनाओं को

फिल्म की पटकथा का आधार बनाया गया है। इस फिल्म में फिल्मकार यह बताना चाहता है कि खुद पुलिस तंत्र का साम्प्रदायीकरण हो गया।

तेज (पुलिस अधिकारी) और मंगलराव (मुख्यमंत्री का खास आदमी) में कोई फर्क नहीं है हो सकता है तेज भ्रष्ट न हो वह सख्त अफसर भी न हो लेकिन उसका मनो मस्तिष्क पूरी तरह से हिंदू साम्प्रदायिकता से विषाक्त ले चुका है। पूरी फिल्म में तेज और देव के बीच चलने वाली बहस इसी बात को प्रमाणित करती है। देव का तर्क है कि पुलिस को संविधान के अनुसार काम करना चाहिये और संविधान की नजर में हिन्दू और मुसलमान दोनों बराबर है। उसका यह भी मानना है कि अपराधियों, दंगाइयों और अतांकवाद्यिों का कोई धर्म नही होता है इसलिए उनसे निपटते हुए यह नहीं देखना चाहिए कि उनका धर्म क्या है लेकिन तेज यह नहीं मानता। वह मानता कि मुसलमान ही सारे फसाद की जड़ है वे सांप है, जिन्हें पैरो से कुचल देना चाहिए। ठीक यहीं भाषा फिल्म 'शौर्य' में विग्रडियर रूद्र प्रताप सिंह बोलता है। देव में जब पुलिस लतीफ के अड्डे पर छापा मारती है तो वहां से फरहान भागता हुआ पकड़ा जाता है। लाकअप में तेज उसे बुरी तरह से मारता है क्योंकि वह मुसलमान है। देव उसे बचाता है।

**व्यवस्था का साम्प्रदायीकरण----**

'देव' में तेज के मुसलमानों के प्रति नफरत को एक भावनात्मक आधार भी दिया गया है। देव-भारती का बेटा अरमान पांच साल की उम्र में आतंकवादियों की गोली शिकार हो गया था। अरमान को तेज अपने बेटे की तरह प्यार करता है। अरमान की मौत का सदमा माता-पिता को भी होना लाजमी है लेकिन अरमान की मौत को मुसलमानों के प्रति अपनी नफरत के लिए बहाना बनाने की तेज भी कोशिश से देव सहमत नहीं होता। वह इस पर बहस नहीं करता लेकिन वह यह मानता है कि कुछ लोगों की गतल हरकतों के लिए पूरी कौम को जिम्मेदार

मानना उचित नहीं है। उसकी यही मानवतावादी दृष्टि  धीरे-धीरे फरहान में अपने बेटे का अक्स देखने लगती है। अंत में देव की मौत के बाद, जब तेज फरहान से पूछता है कि तुम्हारा और देव का क्या रिश्ता था तो वह उत्तर देता  कि वह उसके रूहानी पिता थे।

'देव' व्यवस्था के साम्प्रदायीकरण की जारी प्रक्रिया को दिखाते हुए पुलिस की कोई भी आलोचना पुलिस बल के मनोवल को तोड़ने वाली कहकर प्रतिबंधित की जा सकती है। इसलिए यह जरूरी हो जाता हैं। कि ऐसी कोई भी फिल्म जिसमें पुलिस तंत्र की आलोचना की जानी हो उसी में पुलिस की सकारात्मक भूमिका को भी दिखाया जाए। वैसे भी यह मानने की कोई वजह नहीं है कि पूरा पुलिस तंत्र साम्प्रदायिक हो गया है। हां यह प्रक्रिया बहुत तीव्र है और इसके वि लोगों को सचेत नहीं किया जाता है तो ऐसा होना असंभव भी नहीं है पुलिस तंत्र में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के लोगों के बढ़ने से उनके साम्प्रदायिक राजनीति के हथियार बन जाने की सभावनाएं भी बढ़ जाती है। भाजपा और शिवसेना जैसे साम्प्रदायिक राजनीतिक संगठनों को केन्द्र और विभिन्न राज्यों में सत्तासीन होने का मौका मिलता है, तो पुलिस के संप्रदायीकरण की यह प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। इसकी वजह यह भी कि पुलिस वल में भ्रष्टाचार और अपराधी प्रवृत्तियों ने पहले से गहरी जड़े जमा रखी है और ऐसे में उसके सम्प्रदायीकरण की प्रक्रिया के लिए उर्वर जमीन पहले से तैयार होती है। फिल्म में तेज देव को समझाते हुए कहता है कि जब आंधी चल रही हो तो वे पेड़ बच जाते है जो झुक सकते हैं, जो अकड़कर खड़े रहते है। वे टूटकर गिर जाते है। इस पर देव जबाव देता है कि तेज तुम तो बच गए यहां देव मानों तेज के नैतिक रूप से कमजोर होने को भी जाहिर कर देता है। दूसरी बात यह है कि तेज और देव के विपरीत चरित्र के द्वारा ही पुलिस वालों में साम्प्रदायिक तत्वों की गहरी घुसपैठ और उससे पैदा हुए खतरोंको तीखे रूप में उजागर किया जा सका है।

देव कोई महानायक नहीं है और फिल्म ऐसा दिखाने का प्रयत्न भी नहीं करती है इसके विपरीत वह भले ही संविधान के प्रति ईमानदार रहने वाला पुलिस अधिकारी हो, लेकिन राजसत्ता की ताकत का वह जिस तरह से इस्तेमाल करता है वह लोकतांत्रिक देश के लिए किसी भी तरह से उचित नहीं माना जा सकता लेकिन फिल्म देव को महानायक इसलिए बना देती है क्योंकि गुजरात जैसी भयावह स्थितियों में देव जैसे पुलिस अफसरों में होने से भी सैकड़ों निर्दोष लोगों की जान बचाई जा सकती है और साम्प्रदायिक राजसत्ता के इरादों को कुछ हद तक नाकामयाब किया जा सकता है, 'देव' में दिखाए गए दंगों से कहीं ज्यादा खतरनाक था, गुजरात का नरसंहार, लेकिन पुलिस तंत्र की भूमिका को लेकर जो सवाल देव में उठाया गया है, उसकी प्रासंगिकता दोनों जगह समान रूप से है।

**गुजरात के साम्प्रदायिक दंगों पर बनी फिल्में---**

'देव' निश्चय ही एक महत्वपूर्ण फिल्म है लेकिन गुजरात के दंगों की सच्चाई को राहुल ढोलकिया की अंग्रेजी फिल्म 'परजानिया' (2007) में जिस तरह प्रस्तुत किया गया है, वह अतुलनीय है। यह फिल्म एक सच्ची घटना पर आधारित है। 2002 के दंगों के दौरान अजहर मोदी नाम का एक पारसी लड़का खो जाता है उसका परिवार जो अब भी उसे खोज रहा उसे ही राहुल ढोलकिया ने इस फिल्म का विषय बनाया है। फिल्म अजहर मोदी को ही परजान पेठावाला के रूप में प्रस्तुत किया गया है इस फिल्म की कहानी एक अमेरिकी एलेन के माध्यम से कही गयी है जो गांधी की शिक्षा को जानने और उसके भारत पर प्रभाव का अध्ययन करने केलिए आया हुआ है। अहमदावाद में उसकी मुलाकात एक पारसी परिवार से होती है यह एक छोटा सा पारसी परिवार है। इस परिवार में साइरस पेठावाला (नसीरूद्दीन शाह) उसकी पत्नी शरनाज (सारिका) बेटा परजान (परजान दस्तुर) और बेटी दिलशाद है फिल्म

गोधरा की घटना से शुरू होती है, यह बात चारों ओर फैल जाती है कि अयोध्या से लौटते हुए कार सेवकों को गोधरा में साबरमती आश्रम के एक डिब्बे में मुसलमानों ने आग लगाकर मार डाला है। इसकी तीव्र प्रतिक्रिया होती है। और हिंदू साम्प्रदायिकों की भीड़ द्वारा सैकड़ों मुसलमानों की हत्या कर दी जाती है। इसी समय परजान अपनी बहन के साथ स्कूल से लौट रहा होता है। लेकिन दंगाइयों के कारण विछुड़ जाता है।

पिठावाला परिवार के शेष तीनो सदस्य तो मिल जाते हैं, लेकिन परजान का कही पता नहीं लग पाता। साइरस अपने बेटे की तलाश में इधर-उधर भटकता रहता है। एलेन भी उसके साथ रहता है लेकिन परजान का कुछ भी पता नहीं लगता। एलेन भी उसके साथ रहता है लेकिन परजान का कुछ भी पता नहीं लगता। एलेन के लिए यह एक भयावह अनुभव है वह यह जानना चाहता है कि गांधी के अपने प्रान्त में इस तरह का नरसंहार कैसे संभव है। उधर साइरस और उसके परिवार को अपनी पहचान को बनाए रखने के लिए भी संघर्ष करना पड़ता है। लेकिन इस प्रक्रिया में एक ओर यदि हिंदू साम्प्रदायिक संगठनों की क्रूरता दर्शको के सामने उजागर होती है तो दूसरी ओर मुसलमानों की असहायता भी।

फिल्म प्रभावी रूप में राजनीतिक दल और पुलिस की सांठ-गांठ को भी उजागर करती है। फिल्म दंगों के नकारात्मक पहलुओं को नहीं दिखाती, उन कोशिशों को भी दिखाती जो इस दंगे की वास्तविकता को जनता के सामने लाना चाहते है। ऐसे जनपक्षीय संगठन कोशिश करते है कि मुसलमान यह बातए दंगाई कौन थे। आरंभिक हिचकिचाहट के बाद मुसलमान आगे आते है और बताते है कि उनके साथ क्या हुआ और वे कौन थे, जिन्होंने इस नरसंहार को अंजाम दिया। फिल्म इस विश्वास के साथ खत्म होती है कि गुजरात के नरसंहार के दोषियों को एक दिन सजा मिलेगी।

**फिराक---**

नंदिता दास निर्देशन में बनी इस फिल्म एक कहानी नही, बल्कि चार-चार कहानियां एक साथ चलती है। फिराक  गुजरात दंगे के एक महीने बाद के हालात से जुड़ी कहानियां कहती है। फिल्म की शुरूआत लाशों के ढेर से होती है, जिनका एक बड़े गढ्ढे में दफनाने की कोशिश करते ही आदमी दिखाई देते हैं जो अपने रिश्तेदारों को ढूढ़ रहे है। उसी समय एक और ट्रक आता है और वह उन्हीं लाशों में आदमी, औरते और बच्चे सभी है। लाशों का यह ढेर नाजी शासन के दौरान यहूदियों  के साथ हुए जुल्मों की याद दिलाता है। गुजरात के दंगों को भी दंगों के दृश्यों से नहीं  बल्कि लाशों के ढेर से दिखाया गया है  दंगों का अर्थ सिर्फ यह नहीं है कि कुछ लोग धर्म के नाम पर निहत्थे लोगों, औरतों और बच्चों की हत्या करते है उनको जिंदा जला देते हैं, औरतों का बलात्कार कर उनका अपमान करते है। उनका सबकुछ छीन लेते, आग लगाकर उन्हें नष्ट भी कर डालते है। दंगे का मतलब यह भी है कि किसी समुदाय विशेष के लोगों को ऐसी घृणा का पात्र बना दिया जाता है। जिनकी हत्या करना और हत्या करने के बाद उनकी लाशों को अपमानित करना भी उन्हें विचलित नहीं करता। इसलिए फिल्म का यही एक दृश्य उस पूरी त्रासदी को व्यक्त कर देता है, जो गुजरात के दंगों के दौरान घटित हुई थी। फिल्म की कहानी इस घृणित त्रासदी के एक महीने बाद भी है।

**फिल्म में चार कहानियां सामान्तर चलती है---**

जो आपस में एक दूसरे से कम ही टकराती है। एक कहानी मुनीरा  (शहाना गोस्वामी) नामक मुस्लिम स्त्री की है। जो दंगों से बचने के लिए आटों चालक पति हनीफ और छोटे बच्चें के साथ अपना घर छोड़कर चली गयी थी। एक महीने बाद जब वे अपने घर लौटते है तो पाते है कि उनका घर जलाया जा चुका है। घर की सब चीजें भी जल कर खाक हो चुकी है।

दूसरा दृश्य एक मध्यवर्ग हिंदू परिवार का है, जिनके घर के दो सदस्यों ने लूटपाट में हिस्सा लिया था। उस घर के बड़े बेटे की पत्नी आरती (दीप्ति नवल) इस अपराध बोध से ग्रस्त कि उन दंगों के दियों में उससे मदद की गुहार लगाने वाली अधजली मुस्लिम औरत की वह मदद नहीं कर सकी। इस कायरता ने उसे अंदर से हिला दिया है वह उस औरत की पीड़ा को महसूस करने के लिए अपने ही हाथ पर गर्म तेल डालकर घाव कर लेती है।

**तीसरी कहानी-**

गायक जहांगीर अलीखान की है जिन्हें अब भी उस मिली जुली संस्कृति पर यकीन है जिसकी पहचान सूफी  कवि वली थे और जिनकी मजार को दंगों के दौरान तोड़ दिया गया था।

अगली कहनी समीर शंख (संजय सूरी) और अनुराधा देसाई (टिस्का चोपड़ा) की है समीर एक उच्च मध्यवर्गीय मुसलमान युवक है जिसने अनुराधा देसाई नाम की हिंदू लड़की से विवाह किया है। यह समीर अपनी मुसलमान पहचान से डरा हुआ है क्योंकि दंगों में उकसे व्यापार को नुकसान पहुंचाया गया है। वह गुजरात छोड़कर दिल्ली शिफ्ट लेना चाहता है। इन चार कहानियों के अलावा एक छोटा सा अनाप बच्चा भी है, जिसके माता-पिता और दूसरे रिश्तेदार दंगों में मारे जा चुके है और वह शहर में इधर-उधर भटक रहा है ये सभी दूसरे के सामान्तर आगे बढ़ती है। फिल्मकार का ऐसा मानना है ये सभी कहानियां वास्तविक घटनाओं पर आधारित है। फिल्मकार इन कहानियां के माध्यम से नफरत के सैलाब  के बाद बची-खुची और बिखरी इंसानियत को समेंटना है।

फिल्म के एक दृश्य में मुनीरा के घर पर पुलिस तलाशी ले रही होती है पुलिस को शक है कि उसके घर में हथियार छुपाए गऐ है। पुलिस से बचाने के लिए वह मुनीरा को हिंदू लड़की

अपने घर ले जाती है मुनीरा गुस्से से पूछती है 'हमारे घर में हथियार ढूढ़ने से पहले उन गुंडों को क्यों नही पकड़ते जिन्होंने हमारे घर को जलाया? हिंदू सहेली जानती है मुनीरा को इस समय पैसे की जरूरत है। वह यह भी जानती है कि उसकी मुस्लिम पहचान ही उसके संकट का कारण है वह चाहती तो इन सब से अलग रह सकती थी। वह भी उन हजारों हिंदु ओं की तरह पीठ कर सकती थी। लेकिन वह ऐसा नहीं करती है। वह खतरा उठाकर अपनी सहेली की मदद करती है।

आरती की कहानी ज्योति से अलग है वह एक प्रौढ़ और परंपरागत मध्यवर्गीय हिंदू परिवार की गृहिणी है। ज्योति की तरह उसने भी अपने को नफरत के सैलाव में नही बहने दिया है, लेकिन उसमें वह साहस नहीं है जो ज्योति में है अपनी खिड़की पर खड़ी मदद के लिए गुहार लगाती मुस्लिम स्त्री को बचाने के वजाय उसने डर के मारे खिड़की बंद कर दी थी। लेकिन उसकी कायरता अब उसके दिल पर इतना बोझ बन गयी है कि वह अपने को पीड़ित करके ही उस अपराध से मुक्त होने का प्रयत्न करती है। वह उस अनाथ मुस्लिम बच्चे मोहसिन (मोहम्मद समद) की मदद करना चाहती है, जो सड़कों पर इधर-उधर भटक रहा है वह उस बच्चे को घर लाती है। अपने ससुर से उसका परिचय मोहन के रूप में कराती है। उसकी मुस्लिम पहचान बताने वाले ताबीज  को वह गले में पीछे मे तरफ कर देती है वह सोचती वह घरेलू नौकर बोलकर अपने पास रख लेगी। लेकिन मोहसिन अपने को शरण देने वाली आरती को ही अपने पति (परेश रावल) के हाथों पिटते देखता है तो वह वहां से भाग जाता है। आरती के पति ने तथा उसके देवर (दिलीप जोशी) ने दंगों के दौरान लूटपाट और दंगे फसाद में सक्रिय हिस्सा लिया था। और वे लोगों मुसलमानों से भी नफरत करते है। तथा औरतों के प्रति भी किसी तरह के सम्मान का भाव नहीं है।

**धार्मिक पहचान----**

फिराक ने धार्मिक पहचान का सवाल बहुत अहम बनकर उभरता है इन दंगों में उन मुसलमानों को भी नहीं बक्शा गया जो अपेक्षाकृत संपन्न परिवार से तथा शिक्षित लोग थे। सुलेमान की दुक्कान में कुछ लोग पिस्तौल की तलाश में घुसते है और उसने दुक्कान का नाम परिमल रखा था। इसके बावजूद उसकी दुकान जला दी जाती है। क्योंकि दुक्कान का मालिक मुसलमान था। अपनी दुक्कान का नाम संस्कृत शब्द पर रखने के बावजूद उसको मारा जाता हैं चूंकि वह मुसलमान है और इसीलिए उसे नफरत के लायक ही समझा गया। साम्प्रदायिकता उस मिली-जुली सस्कृति से भी नफरत करती है जो हिंदुओं और मुसलमानों के बीच भेद नहीं करती। इसीलिए गुजरात के दंगों के दौरान हिंदुत्व वादियों ने सूफी कवि वली दक्कनी की मजार पर बुलडोजर चलवा दिया था और उस मजार का नमोनिशान मिटा दिया था। जहांगीर अली खान उसी परंपरा का गायक, लेकिन गुजरात में अब उस परंपरा से अपने कोजोड़ने वाले लोग अंगुलियों पर गिनने लायक रह गए है।

**सम्प्रदाय विशेष के प्रति नफरत---**

फिल्म में मुस्लिम के प्रति घोर नफरत एक दृश्य में दिखाई पड़ता है हनीफ नाम का व्यक्ति जो छोटे बच्चे मोहसिन को पुलिस से बचते-बचाते शाहपुरा कैंप छोड़कर आना चाहता है, पुलिस की गोली से तो नहीं, एक हिंदू के हाथों मारा जाता है। वह अनाम हिंदू उसके सिर पर बड़ा सा पत्थर दे मारता है, जिसके घर के नीचे वह पुलिस से बचता हुआ खड़ा हुआ था। पत्थर की चोट से वह वहीं ढेर हो जाता है। मोहसिन जिसने अपने सामने कई लोगों को मरते देखा है, एक बार फिर उसके सामने एक मुसलमान बिना किसी अपराध के मार दिया जाता है।

'फिराक' दंगों की कहानी नहीं है लेकिन दंगों की आग से बची उस गर्म राख की कहानी है जिसके नीचे नफरत के शाले भड़क रहे है। जहांगीर खान सही कहता है कि जहां इतनी नफरत हो वहां सात सुरों की बात करना ही बेमानी हो जाता है। समीर शेख के पार्टनर को अपने ही दुकान के लूटने की वीडियों क्लिपिंग के लिए दस हजार देने पड़ते है। उस दुकान को लूटने में मध्यवर्ग के वे शरीफ लोग शामिल, जिनके मन मे साम्प्रदायिक नफरत का जहर कूट-कूट कर भर दिया गया है। इसी नफरत के कारण ही एक अनजान मुसलमान को मारने के लिए उस आदमी के हाथ नहीं कांपते जो इसलिए हनीफ पर पत्थर फेंक देता है कि वह मुसलमान है। मुसलमानों के प्रति नफरत उस मामूली ठेले वाले तक पहुच चुकी है जो सभी मुसलमानों का खूखांर और कट्टर समझता है। जब आमलेट बनाने वाले को याद दिलाया जाता है कि उसके साथ काम करने वाला मुसलमान लड़का भी क्या वैसा ही खूंकार और कट्टर है, तो ठेला वाला कहता है, वह तो एक चींटी भी नही मार सकता। जाहिर है कि साम्प्रदायिक सोच लोगों के दिमागों को ऐसा कुंद कर दिया है कि अपने आसपास की हकीकत को देखने के लिए तैयार नहीं है। इस नफरत की सबसे खतरनाक पहलू यह है कि इसकी चपेट में सरकार की मशीनरी भी आ चुकी है। गुजरात के दंगों के दौरान पुलिस का व्यवहार सबसे शर्मनाक था। जिसने दंगाइयों को रोकने के बजाय उनकी मदद की। एक महीने बाद भी इस फिल्म की कहानी में भी पुलिस उसी तरह दंगों के शिकार मुसलमानों के साथ दुश्मनों जैसे व्यवहार करती नजर आती है। मुसलमानों को अपमानजनक ढंग से 'मियों' कहना। उन्हें पाकिस्तान जाने की सलाह देना पुलिस साम्प्रदायिकीकरण का ही नतीजा है।

यह फिल्म इस नफरत की कहानी नहीं कहती 'यह तो नफरत के बावजूद गुजरात के लोगों में बची इंसानियत की कहानी' कहती है। आरती, ज्योति, मुनीरा, डा. सुभाष, जहांगीर खान और उसका खिदमतगार समीर और उसकी पत्नी और उनके हिंदू दोस्त इंसानियत की

इसी उम्मीद के प्रतिनिधि है। उनमें हरेक अपने ढंग से इस दंगों का शिकार भी हैं और उसके विरूद्ध खड़ा भी  है। फिल्म के अंत में समीर का गुजरात में ही बने रहने का निर्णय जहांगीर खान का शनिवार की बैठक आयोजित करना, अपने पति की इच्छा के विपरीत आरती का घर से बाहर निकलना और ज्योति और मुनीरा की आत्मीयता नफरत के स्याह अंधकार के बीच इंसानियत के छोटे-छोटे दिए, उम्मीद की रोशनी कहे जा सकते है।

हिंदी सिनेमा में यथार्थ से टकराने और उन्हें ईमानदारी से दिखाने का साहस कम रहा है। साम्प्रदायिकता एक बेहद नाजुक और संवेदनशील मुद्दा है जो सियासत को कटघरे में खड़ा करता है, इसलिए फिल्मकारों ने इससे बचकर गुजरना ही बेहतर माना। फिर हिंदी सिनेमा का मूल चरित्र भी यथार्थवादी नहीं है लिहाजा यहां टिपिकल मुस्लिम पात्र गढ़े गए-दाढ़ी टोपी और चारखाने की लुंगी या पठानी पहनावे वाले। वह कभी हिंदू बनेगा या मुसलमान बनेगा गीत तो कभी यारी है ईमान है ईमान मेरा यार जिंदगी गाकर दोस्ताना पैगाम देता है। वह कभी 'दीवार' का करीम चाचा बनता है तो कभी 'शोले' का रहीम चाचा जो गांव की हिफाजत के लिए बेटे की मौत को शहादत में बदल देता है। एम.एस. सथ्थू  की 'गरम हवा' और गोविंद निहलानी की 'तमस' में जरूर विभाजन और साम्प्रदायिकता को दिखाने में ईमानदारी बढ़ती गई है। इसके अलावा अधिकतर फिल्म  में मुस्लिम जन को गुडी-गुडी दिखाया गया है। 90 के दशक में एक निर्णायक मोड़ जरूर आया, अब 1992 के बाबरी मस्जिद विध्वंस और गुरात दंगों पर कई फिल्में बनी। इस सिलसिले में कुछ बेहतरीन फिल्में भी आई खासकर राकेश शर्मा की 'फाइनल सल्यूशन' जो है तो डाक्यूमेंट्री मगर फीचर फिल्म से ज्यादा प्रभाव छोड़ती है।

आनंद पटवर्धन की 'राम के नाम' में आडवाणी की रथ यात्रा से उपजे उन्माद को कोशिश है। जिसके मां-बाप को उसके सामने ही दंगे में हलाक कर दिया जाता है। बच्चा मानसिक रूप से असंतुलित हो जाता है।

बावरी मस्जिद और गुजरात की  घटना की तरह 9/11 के बाद हिंदी में आतंकवाद पर मुस्लिमों को केन्द्र में रखकर फिल्में बनने लगी पहले 'न्यूयार्क' और 'कुर्वान' फिर 'माई नेम इज खान' इन तीनों फिल्मेां का विषय है आतंकवाद।

फिल्म 'माचिस' में ओमपुरी ने एक सवाल किया था, क्या आतंकवादी खेतों में उगते है। उस सवाल के जबाव के तौर पर ही जैसे आतंकवादी पृष्ठभूमि पर फिल्में बनने का सिलसिला शुरू हुआ, जो अब तक जारी है। बेशक आतंकवादी खेतों में नहीं उगते लेकिन वे गरीबी की कोख से भी नहीं जन्मते, इसे वालीबुड ने साबित किया है। फिल्मों आतंकवादी का चेहरा बदला है। अब वह ट्रडिशनल इस्लामी दाढ़ी में नही दिखता है। 'कुर्वान' के यंग स्मार्ट सैफ अली खान की तरह अल्ट्रामाड हो गया है विषय के रूप में वालीवुड के खेत आतंकवाद की फसल लहलहा रही है फसल काटने के लिए फिल्मकारों में होड़ सी मच गई है। दुखद यह है कि एक गंभीर मसाला ब्रांड बन गया है। ब्रांड पर मेड इन इंडियालिखा जा रहा है और उसे अमेरिकी पृष्ठभूमि की रस में डुबाया जा रहा है।

यह एक अजीब बिंडम्बना है कि जितने साल हमारी राजनीतिक आजादी केा हुए, उतने ही बरस साम्प्रदायिक यंत्रण को भी। आजादी की खुशी और साम्प्रदायिकता के खंजरनुमा विभाजन की चुभन हमें एक साथ मिली। दोनों रंग बीतते वक्त के साथ बदलते गए। एक आशंकाओं में घिर कर सवालों की सूली पर रंगा तो दूसरे का रंग साल-दर-साल गहरा होता गया आज हम यह कहने की स्थिति में है कि आजादी के झंडे में बेमानीपन का रंग चढ़

गया है लेकिन दूसरी ओर साम्प्रदायिकता का जहर चुपचाप हमारी रगों और देश समाज की घमनियों में पूरी रवानगी के साथ दौड़ता रहता है। राजनीति के दबाववश जब कभी भी नसें फटती है तो दंगों की शक्ल में लहू घरों, गलियों और सड़कों पर बहता है, जिसे मुआवजे या जांच आयोग की छांव से ढंकने की नाकाम कोशिश होती है। हम जख्मों का इलाज करने के बजाए उसे छिपाना जानते है इससे जख्म नासूर में तब्दील होता जाता है। इस पर कुछ फिल्में बनी है। जैसे- 'फिराक' 'ब्लैक फ्राइडे'। जैसी फिल्मों में वास्वतिकता को करीब से दिखाया गया है।

अब बात हिंदी फिल्मों में फिरकापरस्ती की। इसमें कोई दो राय नहीं कि भारत-पाक विभाजन और सांम्प्रदायिक दंगे हमारे समाज के ऐसे जलते सच जिनकी तपिश कम ज्यादा तो होती रहती है लेकिन कमी खत्म नहीं होती कमी न खत्म होने वाली जख्मी हकीकत है यह फिर ऐसा क्यों हुआ? कि आजादी के बाद विभाजन के बाद भी विभाजन या साम्प्रदायिकता पर ऐसी कोई उल्लेखनीय फिल्म नहीं बनी, जिसने लीजेंड का दर्जा दिया जाए इस वेहद तल्ख सच्चाई से सिनेमा दूर रहा। समाज में लगातार साम्प्रदायिक दंगों का सिलसिला जारी रहा, लेकिन हमारी हिंदी फिल्में हसीन वादियों में मोहब्बत के तराने दिखाती रहीं। यहां एक ऐसे यंग्रीमैन नायक का उदय हुआ जो अकेले दर्जलों को ढिसुम-ढिसुम कर ठिकाने लगा देता था। हकीकत में ऐसा नायक कहीं था नहीं। कायर होता समाज फिल्मी हीरो के इस दुस्साहस को देखकर गदगद था। वर्ष 1942 में वी. शान्ताराम को 'पड़ोसी' फिल्म आई थी। जिसमें साम्प्रदायिकता पहली बार अपने प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त हुई थी। वर्ष 1953 में फिल्मिस्तान की 'नास्तिक' आई जिसे आई.एस. जौहर ने बताया था। फिल्म में विभाजन की नृशंसता देखकर नायक अजित नास्तिक हो जाता है। इसके बाद लंबा अंतराल साम्प्रदायिकता विरोधी फिल्म 1963 में 'धर्मपुत्र' प्रदर्शित हुई। इसके एक दृश्य में मनमोहन

कृष्ण नायक शशि कपूर से कहते हैं। ''धर्म के नाम पर खून-खराबा और मारकाट इसलिए होती है कि धर्म को मानने वाले ऐसे लोग पैदा हो गए जैसे कि तू है। तूने धर्म को दहकती हुई भट्टी बना दिया है....तू तो वो है  जो मजहवों की सूरत बिगाड़ देता है... आज तू हमारे बेटे के रूप में सामने आया है, तुझे मैं अपने हाथ से गोली मारता हूँ

दरअसल एक समय विभाजन और साम्प्रदायिकता को दिखाने के अपने जोख़िम थे यह जोखिम फिल्मकार उठाना नहीं चाहते थे। यह वेहद संवेदनशील होता है धर्म को राजनीति से जोड़कर फिल्में बनाना तलवार की धार पर चलने सरीखा सन्तुलन बिगड़ा नहीं कि गिरे धड़ाम से।

फिल्म विवादों में फंसे। फिल्म निर्माण में लगे लाखों-करोड़ों  रूपये  के छूने के गहरे आसार। अनुराग कश्यप् की फिल्म 'ब्लैक फ्राइडे' को मिसाल के तौर पर देखा जा सकता है जो काफी जद्दोजहद के बाद प्रदर्शित हो पाई। 'परजानियां' को प्रदर्शित कराने के लिए राहुल ढोलकिया को भी काफी मशक्कत करनी पड़ी। संभवतः यही वजह कि अधिकतर फिल्मकारों ने शार्टकट रास्ता अख्तियार किया। साम्प्रदायिक सद्भाव के नाम पर उन्होंने अभिनेता को चारखाने की तहमद और सिर पर गोल टोपी पहनाकर नमाज पढ़ते दिखाया या हिंदू-मुस्लिम एकता का गीत गाते, तू हिंदू बनेगा न मुसलमान बनेगा, इंसान की औलाद है इंसान बनेगा। सच तो यह है कि साम्प्रदायिकता महज सामाजिक मसला न होकर राजनीतिक मसला ज्यादा है। आम जनता दंगा नहीं चाहती है। वह वोट का खेल  है, सत्ता तक पहुचने का वह शार्टकट जो दंगों में गिरी लाशों से गुजरता है। सियासत हिंदू-मुसलमान के बीच फांक करती है। उसमें लहू भरती है। क्या इन सवालों से टकराएं और इनकी पड़ताल किए बिना साम्प्रदायिक या विभाजन पर अविस्मिरणीय भला कैसे बन सकती थी।

अभी भी इंतजार है एक ऐसी फिल्म का जो विभाजन की पीड़ा, साम्प्रदायिकता की असली जड़ों और इनसे जुड़े तमाम सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक पहलुओं पर रोशनी डालते हुए मार्मिकता के लैस से अनूठी तस्वीर पेश करें।

## अध्याय – तीन

# हिंदी सिनेमा में भारत बिभाजन की त्रासदी और हिंदू-मुस्लिम संबंध:

# (गरम हवा, तमस, पिंजर तथा खामोश पानी)

### गरम हवा (1973)

भारत विभाजन की त्रासदी पर हिन्दी मे कुछ फिल्मे बनी है। यह सिलसिला अनवरत निरंतर है। हर कोटि के फ़िल्मकारों ने इसे देखा, इसकी व्याख्या की तथा प्रस्तुत किया। इनमे मैसूर श्रीनिवासन सथ्थु की गरम हवा (1973) वह कृति है जो इस त्रासदी को मानवीय धरातल पर प्रस्तुत करती, सामाजिक सरोकारों जोड़ती और राजनीतिक परिदृस्य मे विश्लेषित करती है भावनात्मक के गहन वीहड़ों मे उतरने के बावजूद 'गरम हवा' उतनी ही तल्खी से राजनीतिक और सामाजिक विडंबनाओ से रूबरू होती है। सलीम मिर्जा,एक देश भक्त मुसलमान है की बेबसी और और आहत स्वाभिमान का बिम्ब बन प्रेक्षक के भीतर उतरते है। धर्म और नैतिकता को पाखंड की तरह धारणकर सत्ता की की लालच से खूनी खेल खेलने वाले रहबरों की पाशविकता को 'गरम हवा' वयक्तिगत स्तर पर नहीं,विचार के पार नकारती है। गगनभेदी नारो की गुंजार के जरिये नहीं, जीवन हकीकी को जमीन पर उतरकर। इसलिए 'गरम हवा' साम्प्रदायिक झगड़े के मूल उत्स के खोज का प्रतीक बन जाती है।

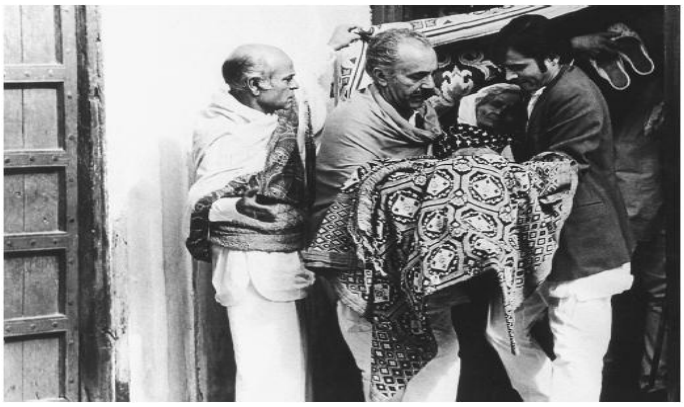

यह एक ऐसे देशभक्त मुसलमान सलीम मिर्जा और उनके कुनबे का किस्सा है जो विभाजन के बाद पाकिस्तान नहीं जाना चाहता था  जिसकी अपनी सरजमी से मोहब्बत मजहबी उन्माद की बाली नहीं चढ़ती। उनके बड़े भाई हलीम मिर्जा,जो विभाजन के पहले ताल ठोंककर कहते  है चाहे हिंदुस्तान के सारे मुसलमान पाकिस्तान चले जाए लेकिन वे अपना मुल्क नहीं छोड़ेंगे और विभाजन होने वे ही सबसे पहले पाकिस्तान भागते है। एक-एक कर सलीम मिर्जा के परिवारजन उन्हे और अकेला करते हुए पाकिस्तान चले जाते है। उनका अपना बेटा उन्हे छोड़ जाता है।उसे आजाद भारत मे मुसलमानो की तरक्की की कोई राह  दिखलाई नहीं पड़ती।सलीम मिर्जा का जूते का कारख़ाना चौपट हो जाता है और वे अपने ही कारखाने मे कामगार की हैसियत मे पहुच जाते है।उनकी बेटी अपने प्रेमी और बाद मे अपने मंगेतर के छोड़ जाने की वेदना से अत्महत्या कर लेती है।एक दिन ऐसा भी आता है जब सलीम मिर्जा खुद पाकिस्तान जाने का फैसला करने के लिए मजबूर हो जाते है लेकिन अंततः उनका छोटा बेटा सिकंदर उन्हे राह दिखाता है की भारतीय मुसलमान की समस्या का निदान पलायन नहीं है,जाति- धर्म निरपेक्ष  सामाजिक सरंचना के सार्थक प्रयासो  के साथ एकजुट होने मे है। हम अंत मे सिकंदर के साथ ही खुद सलीम मिर्जा को भी साम्यवादियों की रैली मे शरीक हुआ पाते है,यह फिल्म का अंतिम दृस्य है।

**भारत विभाजन की त्रासदी पर हिन्दी मे कुछ फिल्मे बनी है**

आजादी के भारत मे मुसलमान किस अपनी जमीन पर बेगाना सा हो गया, उसकी तरक्की के रास्ते सिकुड़ गए है और उसकी देशभक्ति शक के दायरे मे आ गए,इसका संवेदनशील चित्रण 'गरम हवा' मे हुआ है।अपने रिश्तेदारों को पाकिस्तान रुखसत करते सलीम मिर्जा के चेहरे पर दर्द और स्टेशन पर अलविदा करते हुए ऊपर उठा हिलता हुआ हाथ परकटा परिंदे की वेदना का मूर्त चित्र बन जाता है। स्टेशन से तांगे पर हताश लौटते सलीम मिर्जा,जासूसी करने झूठे आरोपो मे गिरफ्तार कर लिए जाने पर पत्थर की मूरत हो गए सलीम मिर्जा जैसे अनेक बिम्ब है जो दर्शको के आंखो मे ठहर जाते है।

सलीम मिर्जा के जूते कारोबार डूबता है तो उन्हे बाजार और बैंक कही से कर्ज नहीं मिलता है। न जाने कब पाकिस्तान भाग लें ? ऐसे माहौल मे कर्ज कौन मज़हब और तिजारत की भी आपसी अठखेलिया शुरू हो गयी है।सिर्फ देश ही नहीं बटें, दिलों मे दरारें आ गयी।आजादी से

पहले के आपसी रिश्तों की गर्माहट सर्द पड़ने लगी। इस तरह भारतीय मुसलमान सामाजिक और आर्थिक स्तर पर ही नहीं लुटा,आत्मिक रूप से भी घायल हुआ। सलीम मिर्जा पर लगाया गया गद्दारी का झूठा आरोप उनको  जितना विचलित करता है,उतना अपनी बेटी की अत्महत्या का हादसा भी नहीं। इसका प्रत्यक्ष स्वरूप हमने अनेक बार देखा है। छठे दशक मे महबूब खान तथा दिलीप कुमार पर भी ऐसे बेहूदा आरोप लगाया गए थे इन पर शक करना खुद शक करने वालों की नियत पर शक पैदा करता है।  मौकापरस्त राजनीति जिस बारीकी से मुसलमानो की दुविधा और बेबसी को भुनती है, उसकी हम फिल्म मे परत दर परत खुलते देखते है।

एम० एस० सथ्यू समर्पित फ़िल्मकर रहे है। वे इप्टा से आजीवन 'इप्टा' से संबद्ध रहे और अनेक नाटकों का निर्देशन किया,जिसमे गालिब के जीवन पर आधारित कैफी आज़मी का लिखा 'आखिरी शमा' (1969) विशेष उल्लेखनीय है।इसमें गालिब की भूमिका बलराज साहनी ने अदा की थी सथ्यू ने इससे पहले मूक फिल्म 'एक था छोटू एक था मोटू' बनाई। गरम हवा उनकी फ़ीचर  फिल्म थी और सर्वाधिक महत्वपूर्ण भी।'गर्म हवा' के बाद उन्होने (1980) में  कन्नड मे 'बरा' का निर्माण किया जिसे हिन्दी में 'सूखा'  नाम से बनाया गया। उन्होने अनेक महत्वपूर्ण डॉक्युमेंट्री  कभी निर्माण क्या।सथ्यू रचनात्मक फिल्मकार रहे है धन को ज्यादा वरीयता नहीं दी है।

'गरम हवा' इस्मत चुगताई की कहानी पर आधारित है इसकी पटकथा  कैफी आज़मी और सथ्यू की पत्नी लेखिका शमा जैदी ने तैयार की थी और संवादो को अवध की खुशबू भी कैफी आज़मी ने ही दी थी। सलीम मिर्जा की भूमिका बलराज साहनी ने अदा की थी और उनके छोटे बेटे  सिकंदर की भूमिका फारुख शेख थे जो भारतीय मुसलमान के जाति-धर्म

निरपेक्ष समाज की सरंचना मे सारंचनात्मक योगदान का प्रतीक बनते है संघर्ष की प्रेरणा देते है,पलायन की नहीं।पलायन का अर्थ सिर्फ शुतुरमुर्ग की तरह अपना सिर जमीन मे गड़ाकर वास्तविकता से मुंह चुरा लेना है जिसका परिणाम विनाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है अन्य भूमिकाओ मे गीता सिधार्थ,जलाल आगा,ए के हंगल,जलाल हाशमी शौकत आज़मी, दीनानाथ जुतशी,यूनुश परवेज़ के अतिरिक्त बदर बेगम,ने सलीम की बूढ़ी माँ, जो सबकी दादी अम्मा है, के रूप मे इस कदर जीवंत अभिनय किया है कि उसे अभिनय कहना ही गलत होगा।

**विस्थापन का दर्द ---**

विस्थापन कि पीड़ा किस तरह मनुष्य को अंदर से हिला कर रख देती है इसका प्रतीक है दादी अम्मा है, जब सलीम मिर्जा कि हवेली बिकती है और उन्हे किराए के मकान मे जाना पड़ता है तो दादी अम्मा एक कोठरी मे जा कर दुबक जाती है। किसी मेमने कि तरह,जिसे बलि देने ले जाया जा रहा हो।वे जब तक जीती है किराए के मकान में ऊपरी कमरे से हवेली को निहारती रहती है और उनके प्राण तभी निकलते है जब उन्हे मरणासन्न हालत मे अपनी पुश्तैनी हवेली तक कि उनकी यह अंतिम यात्रा पालकी से पहली बार ससुराल जाने कि यात्रा कि तरह महक उठती है। पार्श्व संगीत मे शहनाई की अनुगूँज उनकी इस अंतिम यात्रा को आनंद यात्रा मे बदल देती है अपनी जमीन से बिछुड़ना अपनी माँ से बिछुड़ना है।वे अपनी हवेली से दूर नहीं हो सकी, पाकिस्तान भला क्या जातीं।विभाजन के समय बिल्कुल साफ कहती है हम उस मिट्टी से बिछुड़ कर नहीं रह सकते है जहा हमारे पुरखो की हड्डिया और यादे दफन हैं। बदर बेगम ने दादी अम्मा की पीड़ा, स्वाभिमान और अपनी मिट्टी की मोहब्बत के आनंद को मानो रूपाकृति प्रदान कर दी है। हवेली छोड़ते वक्त कोठरी के एक

कोने मे गठरी मानिंद सिमटी –सिकुड़ी –दुबकी दादी अम्मा की मासूम सूरत इतनी अपनी है कि उन निरीह आंखो कि वेदना से मुक्त हो ही नहीं सकते।

**भविष्य का पूर्व अनुसंधान–**

'गरम हवा' (1973) मे बनी थी तब देश को आजादी की कुल जमा रजत जयंती ही हुई थी।भारतीय राजनीति को सांप्रदायिकता का ग्रहण नहीं लगा था बाबरी मस्जिद गिराने जैसी उग्र सांप्रदायिता का उदय तो कोई दो दशक बाद हुआ। इस तरह कह सकते है कि 'गरम हवा' भविष्य का पूर्व अनुसंधान कर लेती है ये हमे ये बताती है राजनीति और सामाजिक व्यवस्था मे धर्म का हस्तक्षेप होने से समाज को कठिन परिणाम से गुजरना पड़ता है ये फिल्म एक चेतावनी है। यह हमारे अन्तर्मन में एक कविता कि तरह तैरते हुए इस आलोक से समृद्ध करती है कि मनुष्यता तब ही विजयी होती है जब किसी भी किस्म कि संकीर्णता से मुक्त होकर जीवन मे समरसता का आह्वान किया जाता है। फिल्म के आरम्भ में ही गुनगुनाई जाती कैफी आज़मी की नज्म के बीच धर्मान्ध पाशविकता के धुंधले नजारे पर्दे पर उभरते है। धर्म की लाठी से धर्म की मूल भावना को लहूलुहान के नज़ारे।और इनके बीच उभरती है हमारे रहबरों की तस्वीरे,जिन्होने इस आपदा को दूर करने की जगह इसे आमंत्रित करने की भूमिका निभाई।औपनिवेशिक ताकतों के षड्यंत्र के शिकार हुए मासूम बेगुनाह जो हिन्दू और मुसलमान होने पहले इंसान हैं।

**फिल्म का सीमित बजट ---**

हिन्दी सिनेमा के इतिहास मे सर्वश्रेष्ठ फिल्मों की कतार में 'गरम हवा' सबसे कम लागत मे बनी फ़िल्मों मे से एक होगी 1973 मे प्रदर्शित इस फिल्म की लागत 8 लाख रुपए के

आस पास रही थी। यह फिल्म थी जिसने विभाजन के विनाश के बाद फैली हुई एक अजीब सी शांति के भीतर जा कर जांच पड़ताल की।

**फिल्म की पटकथा और संवाद ---**

फिल्म की पटकथा कैफी आज़मी और शमा जैदी ने लिखा था फिल्म के संवाद बहुत आम बोलचाल मे और सभी पारिस्थतियों का पूरी तरह खुलासा करने सक्षम हैं फिल्म मुस्लिम समाज के भीतर और उनके प्रति हो रहे हर तरीके के बदलाव और सोच के सभी पहलुओ को बखूबी छूती हैं।

1. जहां एक ओर कुछ लोग सिर्फ मुस्लिम होने की वजह से पाकिस्तान जा रहे थे वही हिन्दुओ के प्रति विश्वास आज भी कायम है जैसा कि एक मुस्लिम तांगे वाला कहता है यहाँ के हिन्दू भाई बहुत अच्छे है वो चमड़े के धंधे को हाथ भी न लगाएंगे।
2. वही दूसरी ओर एक हिन्दू तांगे वाला सलीम से अधिक पैसे कि मांग करता है ओर बदले मे कहता है कि कम पैसे मे जाना हो तो पाकिस्तान चले जाओ। इस बात को सुनकर सलीम

   कहते है अभी नई-नई आजादी मिली सब अपने अपने ढंग से मतलब निकाल रहे है।
3. बात सिर्फ कुछ हिन्दुओ कि ही नहीं है बल्कि कुछ मौका परस्त मुसलमानो कि भी है कासिम मिर्जा का पिता जो मुसलमानो का नेता था है और अंत तक भारत मे रुकने का वादा कर चुपचाप ही पाकिस्तान चला जाता है।
4. वही दूसरी ओर देश के पढे लिखे नौजवानो के लिए समस्याए धर्म देख कर नहीं आ रही है बल्कि बेरोजगारी सबके हिस्से मे हैं और एक शिक्षित मुस्लिम नौजवान (फारुख

शेख) अपनी असफलता को सिर्फ धार्मिक भेदभाव बताकर मैदान छोड़ देने मे यकीन नहीं रखता।

5. साथ साथ अमीना कि कहानी विभाजन का आम जिंदगी मे पड़ने वाला असर भी दिखती है।

**पलायन नहीं, संघर्ष :-**

सथ्यू एक ईमानदार फिल्मकार है और फिल्म का अंत भी वह सलीम मिर्जा और उनके बेटे सिकंदर के सामाजिक परिवर्तन के संघर्ष से जुड़ने की जरूरत के तहत उनको एक कम्यूनिस्ट रैली मे सम्मिलित से करते है लेकिन तब भी अपनी वैचारिक निष्ठा को नारे बाजी के शक्ल मे सतह पर कतई नहीं आने देते।

विचार अंतर्धारा की भांति समूची फिल्म में सहयात्री बनता है, उदंड तानाशाह नहीं। सलीम मिर्जा का किस्सा हमारे भीतर संवेदना की तरह पहेले उतरता है, विचार की तरह बाद मे घुलमिल जाता है ये संवेदनात्मक उत्ताप बहुधा बलराज साहनी की गहन मूक अभिव्यक्तियों का परिणाम है जो मुहावरे की जुबान मे कहे तो पत्थर को पिघला देने वाली है। अपने ही समाज और परिवार के बीच अजनबी बन जाने वाले सलीम मिर्जा की त्रासदी, जहां खुद को खुद से भी छिपाना पड़ता है बलराज साहनी ने चरित्र के अंत:करण मे उतार कर प्रत्यक्ष कर दिया हैं।

**फिल्म का अभिनय पक्ष ---**

फिल्म मे अदाकारी सबसे अधिक काबिलेतारीफ हैं।अभिनय की दृष्टि से बलराज साहनी का यह उतना ही अहम मुकाम है जितनी 'दो बीघा जमीन' गीता

काक ने एक आम मुस्लिम लड़की का किरदार बेहतरीन ढंग से निभाया हैं फारुक शेख जिनकी ये पहली फिल्म थी शौकत आज़मी, जलाल आगा, दीनानाथ जुत्सी, जमाल हासिम सभी अपनी जगह शानदार है।दादी की भूमिका मे एक स्थानीय महिला बदर बेगम को लिया गया जिसने एक मंजे हुए कलाकार की तरह ही काम और उसकी जुबान मे एक स्थानीय महक व हास्य दोनों है।बलराज साहनी हमेसा ही प्रतिक्रियात्मक दृश्यो में बिना संवाद के ही अपने हाव भाव से ही सबकुछ कह देने वाले कलाकार हैं।फिर वो बैंक मैनेजर के सामने हो या किराए का मकान खोज रहे हो या अपने बड़े बेटे की की बातों को सुनकर जबाब न दे पा रहे हो। अफसोस की ये महान कलाकार अपने इस महान अभिनय को देखने के लिए जीवित नहीं रह सका।

**'समाज के यथार्थ सामने लाना ही कला की ज़िम्मेदारी है।'**

**फिल्म को सम्मान व पुरस्कार ---** फिल्म को कई पुरस्कारों से सम्मानित किया गया जिसमे सदभावना के लिए सर्वश्रेठ फिल्म का नेशनल पुरस्कार और तीन फिल्म फेयर भी मिले। लोगो ने जब इस फिल्म को देखा खूब तारीफ किया।ये अपनी सशक्त कथा तथा प्रस्तुतीकरण के लिए के लिए सराही गयी थी।

**सम्प्रदाय विशेष के प्रति पक्षपात ---** 'गरम हवा' में सथ्यू ने भारत विभाजन से उपजी समस्याओ का सटीक वेवेचन प्रस्तुत किया है इस फिल्म मे वे ऐसा पात्र उठाते है जो विभाजन मे जी रहा है कि इस देश मे विभाजन संभव ही नहीं हैं।किस प्रकार पूरे समाज तथा राजनीत कि गलत सोच किसी एक व्यक्ति कि सही सोच पर हावी हो जाती है तथा ये समाज अपनी गलतियो से कुछ सीखने के बजाय उस व्यक्ति के अस्तित्व को ही नष्ट करने पर तुल जाता है।इस फिल्म मे इस मनोवृति के रेशे उघाड़ कर दिखाने वाली गंभीर रचना है।

आगरा निवासी सलीम मिर्जा यह मानता है कि उसकी जड़े इसी समाज मे है वें यहाँ से उखड़ कर वह कहीं नहीं जम सकता है सन 1946-47 के उन काले दिनो में भी सलीम मिर्जा का यह विश्वास कायम है कि इस समय की ज़रूरत हैं। मानसिक संतुलन बनाए रखना।इस विश्वास के बावजूद सलीम मिर्जा भी आस-पास घट रही घटनाओ से अप्राभावित नहीं रह पता। सलीम मिर्जा के बड़े भाई हालिम पाकिस्तान चले गए सलीम की बेटी अमीना की शादी हलीम के बेटे कासिम से तय हो चुकी है,एक दिन अचानक कासिम लौट आता है। वह अपने परिवार को पाकिस्तान में छोड़ कर हिंदुस्तान मे चोरी छुपे घुस आता है कासिम और अमीना के विवाह की तैयारिया शुरू हो जाती है। तभी पुलिस आ कर कासिम को हिंदुस्तान मे ग़ैर कानूनी ढंग से घुसने के आरोप मे गिरफ्तार कर लेती है

सलीम मिर्जा पर चारो तरफ से दबाव बढ़ रहा हैं सलीम मिर्जा का मकान उनके बड़े भाई पर है और हालिम के नाम पर है और वह पाकिस्तान जा चुका है इसलिए वह मकान पाकिस्तान से आए को एक सिंधी को अलाट कर दिया जाता है।मकान छिन जाने से सलीम मिर्जा के जूते के कारखाने मे काम कर रहे कारीगर भी काम छोड़ कर चले जाते है

सलीम मिर्जा की बेटी अमीना को लगता है, कि अब उसकी शादी नहीं हो पाएगी।वह एक युवक शमशाद से प्यार करने लगती है लेकिन जब शमशाद भी उसे छोड़ करअपने पिता के साथ पाकिस्तान चला जाता है तो वह यह गम सहन नहीं कर पाती और अत्महत्या कर लेती है।

सलीम मिर्जा के बेटे सिकंदर को एक मुसलमान अफसर होने के योग्य सिर्फ इस लिए नौकरी नहीं मिलती है क्योकि वह भी मुसलमान है।एक मुसलमान को नौकरी देने का पक्षपात का आरोप लग सकता है।वह शक के दायरे मे आ सकता है।इसी प्रकार मुसलमानो के लिए

आजादी के बाद हर क्षेत्र मे अपनी पहचान का संकट विकराल स्वरूप ग्रहण करता चला गया।अपनी जमीन पर बेगाने कि तरह जीने की व्यथा से उचाट मानसिकता का शिकार भारतीय मुसलमान इस यथार्थ की जीवंत तलखियो के साथ 'गरम हवा' मे उपस्थिति है। सथ्यू ने कथा क्षेत्र आगरा को इतनी सजीवता के साथ प्रस्तुत किया है की एक ओर तंग गलियों की घुटन और दूसरी ओर ताजमहल और फ़तेहपुर सीकरी का आभामण्डल। इस तरह परवेश स्वयं पात्रो के वजूद का एक हिस्सा बनकर उभरता है।इस फिल्म की सिनेमेटोग्राफी ईशान आर्या ने की है, इस फिल्म का हर शॉट बहुत ही महत्वपूर्ण है और यही फिल्म के प्रोड्यूसर भी है। फिल्म की एडिटिंग एस चक्रवर्ती ने की है इनके एडिटिंग मे ही कसाव है।फिल्म 'गरम हवा' मे भारतीय मुसलमानो की दुविधा से परिचित कराने वाली सक्षम कलाकृति हैं। विभाजन की त्रासदी को सामाजिक संदर्भों मे यथार्थ के धरातल पर इतनी सजग सच्चाई के साथ भारतीय सिनेमा मे कम ही प्रस्तुत किया गया हैं।

**'तमस'**

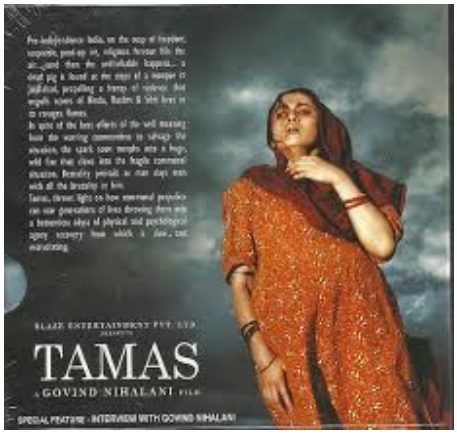


भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' पर आधारित 'तमस' का फिल्म (1987) का निर्माण हुआ 'तमस' धारावाहिक के रूप मे बनी थी, लेकिन बाद मे इसके निर्देशक गोविंद निहलनी ने इसे फिल्म का रूप दे दिया था।यह पूरी तरह से विभाजन पर केन्द्रित फिल्म थी और विभाजन की

पूर्व संध्या मे मे होने वाले दंगो मे अंग्रेजी सरकार की भूमिका का खुलासा अत्यंत विश्वसनीय ढंग से करती है।

तमस में व्यंग और विडम्बना अधिक गहरी हैं क्योकि देश विभाजन की त्रासदी के लिए समाचार स्वयं को दोषी महसूस करता है।तमस सीरियल जब टेलीविज़न पर दिखाया जा रहा था,तब कट्टरपंथी हिन्दू संगठनों द्वारा तथा मुस्लिम संगठनो ने भी अपना गुस्सा जाहिर किया। इन सभी ने सीरियल पर प्रतिबंध लगा देने की मांग को लेकर प्रदर्शन किए गए।इन सभी को इस 'तमस' में अपना 'अक्स' दिखाई दिया। मानो इंन सभी भी ने एक स्वर मे ये कहा की जिस महान घटना के लिए काग्रेंस, स्वयं सेवक संघ, मुस्लिम लीग,तथा अंग्रेज़ सभी जिम्मेदार थे उसका श्रेय एक मामूली नथ्थू चमार कैसे ले सकता है।तमस मे नथ्थू समझता है कि इन दंगो कि शुरुवात उसके द्वारा मारे गए सुअर को मस्जिद के सामने रख देने से हुई है वह अपने इस पाप का प्रायश्चित प्राण दे कर करता है।

फिल्म की शुरुवात एक जलते 'दिये' के साथ होती है उसमें सुअर की आवाज सुनाई पड़ती हैं फिर अगले दृश्य मे एक व्यक्ति उसको घेर कर मरने की कोशिश कर रहा है और उस पर चोट करता है लेकिन उसके पकड़ मे नहीं आ रहा है अंततः वो उसको मार ही देता है।

सुअर मरने वाला व्यक्ति नथ्थू पेशे से यह काम नहीं करता है।वह तो चमड़ा निकालने का काम करता है परंतु मुरादअली जो सलोतरी साहब का नौकर है उसने कहा कि सलोतरी साहब को डाक्टरी परीक्षण के लिए एक मृत्यु सुअर की आवश्यकता है इसलिए मुरादअली ने नथ्थू को पाँच रुपए पकड़ाते हुए सुअर मारने को कहा।वो ये करना तो नहीं चाहता था लेकिन वह मुराद अली को मना नहीं कर पाता क्योकि मुराद अली ही उसे काम दिलाता रहता हैं।सुअर मारना बड़ा कठिन काम हैं मुराद अली नथ्थू को सतर्क करते हुए कहता है।' इधर का

इलाका  मुसलमानी है।किसी मुसलमान ने देख लिया तो बिगड़ेगे।तुम भी ध्यान रखना।हमे भी ये काम बहुत बुरा लगता है।मगर क्या करे,साहब का हुक्म है कैसे मोड़ दे।इस तरह मुराद अली नथ्थू को सावधान करके इस काम के लिए भेज देता है।

जिला कांग्रेस कमेटी के प्रत्येक सदस्य को, जिनमे मेहता जी,बक्शी जी,कश्मीरी लाल, देशराज, संकर मास्टर रामदास,और जरनैल सिंह आदि शामिल है, इन सभी को सुबह चार बजे शहर मे निकालने वाली प्रभातफेरी मे शामिल होने के लिए संध्या के समय कह दिया जाता है, जिला क्रांगेस कमेटी के अध्यक्ष मेहता जी और सचिव वख्शी जी समय के पाबंद है इंसान माने जाते थे। लेकिन उनसे पहले अजीज समय पर पहुचा था। वख्शी जी देरी से पहुचने के कारण क्षमा मांगते है। कांग्रेस कमेटी के अन्य सदस्य धीरे-धीरे आते दिखाई देते हैं

मास्टर रामदास कांग्रेस कमेटी वेतन पर  काम करते है।मगर वो भी काम पर विलंब से पहुचता हैं।कांग्रेस  कमेटी मे जरनैल एक अलग किस्म का इंसान ही नहीं, बल्कि उदण्ड इंसान था।क्योकि कि वह जब भी जिला कांग्रेस कमेटी मे प्रवेश करता  था,तो किसी  से उसकी छोटी-मोटी कहा सुनी होती थी।मुख्य रूप से जनरेल खुले व्यकतित्व वाला इंसान था  जनरेल और कश्मीरी लाल के बीच कभी –कभी छोटी मोटी  छेड़खानी होती थी। कश्मीरी लाल जनरैल को छेड़ा करता था,तो  जनरैल उसे ऊपर से कांग्रेस और भीतर से  कम्युनिस्ट कह  कर उसकी धुलाई करता। बक्शी जी प्रभातफेरी को आते समय अपने हाथ मे करिकेन लैम्प लाये थे जिसको उजाला होते ही बुझा दिया।मेहता जी कांग्रेस कमेटी मे अध्यक्ष परंतु अपने पद का दुरुपयोग बीमा एजेंट के रूप मे करते क्योकि वे जहां भी कांग्रेस कमेटी के काम से जाते है वहाँ पर कांग्रेस के काम से भी ज्यादा  अपनी बीमा कि बातों को लेकर बैठ जाते साथ बीमा के लिए कई नए लोगो कि तलाश करते रहते हैं।

प्रभातफेरी के लिए निकलने मे देरी हो रही थी।इसलिए बक्शी जी व्याकुल थे, क्योकि गायक मास्टर रामदास और देसराज नहीं आए थे इतने मे मास्टर रामदास आते हैं वे गोसाई जी निर्णय सुनते ही कहते है आज प्रभात फेरी नहीं होगी,क्योकि इमामदीन के पीछे की गलियाँ साफ करनी है,तो कश्मीरीलाल गलियाँ साफ करने के बात पर आगे पीछे देखने लगता हैं और उस काम से मुकर भी जाता ही।इसके इस रवैये से जनरैल क्रोधित होकर कश्मीरी लाल को खरी खोटी सुनाता है और स्वयं कहता है नालियाँ मैं साफ स्वयं करूंगा।यह गोसाई द्वारा लिए गए सफाई के अभियान का फैसला कामयाब हो जाता ही और सभी लोग प्रभात के बाद नालियो की सफाई के अभियान मे लग जाते है।

नथ्थू ने किसी तरह सूअर को एक कोठरी मे बंद कर दिया, लेकिन सुअर मारने की बात किसी को भी नहीं बताना था।सुअर मारना उसे बहुत मुश्किल लग रह था उस रात नथ्थू को अपनी पत्नी की बार-बार याद आ रही थी और जी मे आ रहा था कि यह सब छोड़ कर चला जाए।परंतु मुराद अली को को दी हुई बात और उसका दिया हुआ पाँच रुपए का चमचमाता नोट कि आंखो के सामने आ जाता था। इससे विवश हो कर नथ्थू इस काम को अंजाम देने कि ठान लेता है और रात भर सुअर से लड़ता ह्ता है और अंत मे वह सुअर को मरने मे सफल हो जाता है।वह अपनी घर कि ओर चल पड़ता है गली मे पहुचते ही नथुथू को

को आराम मिलता है। अब सुबह हो चुकी थी। उस सुबह- सुबह भी कोई फ़कीर रोज कि तरहगा रहा था,तो किसी के घर से बर्तनो कि आवाज आ रही थी।कुछ लोग मंदिर और गुरुद्वारे कि तरफ जा रहे थे। इस तरह रोज कि तरह सुबह का नजारा दिखाई पड़ता है। रास्ते मे जाते वक्त उसका किसी वस्तु से पैर टकराता है वह नीचे देखता है तो उसको टोना-टोटका नज़र आता हैं ये देख कर वह थोड़ा घबरा जाता है।और बोल पड़ता है किसी और नसीब फूटा है तो मैं क्यो भुगतूवह डर के मारे अपनी पत्नी कम्मों के बारे में सोचनें लगता है।जो इस समय गर्भवती है और बोलता है भगवान इस बार मेरे बच्चे कि रक्षा करना। पता नहीं कौन छोड़ गया है रास्ते मे टोना-टोटका परमात्मा सबकी पनाह बख्शे।उधर कांग्रेस कि प्रभातफेरी निकाल रही थी।और उसके बोल थे।

**'कभी वो दिन भी आयेगा, जब हम अपना राज भी देखेंगे।**

**जब अपनी ही जमी होगी, और अपना ही आशमा होगा।।'**

ठीक उसके सामने से आठ दस लोग गांधी टोपी पहनकर निकल गए।उन्ही मे से एक ने वन्देमातरम का नारा लगाया फिर दूसरी गली मे से पाकिस्तान जिंदाबाद का नारा नथ्थू के कान में गूजने लगा,कुछ आवाज़े और भी आने लगी।दूसरी भीड़ मे से किसीने कहा-

'कांग्रेस हिंदुओं कि जमात है इसके साथ मुसलमानो का कोई लेना देना नहीं हैं।'

दूसरी ओर से एक आवाज आती है ये देखो इस टीम मे, सिख भी है, हिन्दू भी है,मुसलमान भी है।वह अजीज़ सामने खड़ा है, हकीम जी खड़े है।फिर से एक आवाज निकलती है –'अजीज़ और हकीम हिन्दुओ के कुत्ते है।' फिर जबाब मे 'मौलाना आज़ाद क्या हिन्दू हैं या मुसलमान ?फिर से कड़कती हुई आवाज में मौलाना आज़ाद की तौहीन करते हुए जबाब में कहता कि 'मौलाना आज़ाद हिन्दुओ का सबसे बड़ा कुत्ता हैं।'

रिचर्ड और लीजा पति-पत्नी हैं रिचर्ड शहर का डिप्टी कमिश्नर है।लीजा को भारत देश अच्छा नहीं लागत।इसी कारण वो कभी –काभी इंग्लैंड जाया करती है।इस बार लीजा छह महीने बाद लौट कर आयी है लीजा भारत कि सभी चीजों से परिचित नहीं है। लीजा का मन हुआ कि वह पिकनिक पर जाए वह पिकनिक के बारे मे जानकारी हासिल करती है उसे पता लगता है पहाड़ कि तलहट मे एक सुंदर पिकनिक स्थल हैं।लेकिन रिचर्ड वहाँ पर नहीं ले जाना चाहता, क्योकि वह पर हिन्दू- मुसलमानो मे द्वेष भाव के तनाव बने हुये थे, तो आश्चर्य चकित होकर लीजा, रिचर्ड से रहती है।' मैं तो अभी तक हिन्दू और मुसलमान को अलग –अलग से पहचान भी नहीं पाती।तुम पहचान लेते हो रिचर्ड, कि आदमी हिन्दू या मुसलमान ?रिचर्ड एक राजनीतिज्ञ होशियार प्रशासक हैं।लीजा के सामने वास्तविकता को दिखाना नहीं चाहता फिर भी लीजा जानती है। और कहती है बहुत चालाक मत बनो रिचर्ड मैं सब जानती हू। कि देश नाम पर तुम इन्हे आपस मे लड़ाते हो।क्यो ठीक है न ?लीजा की इन बातों को सुनकर रिचर्ड उसके गालो को चूमते हुए कहता है ' डार्लिंग हुकूमत करने वाले ये नहीं देखते कि प्रजा मे कौन सी समानता पाई जाती है।उसकी दिलचस्पी तो यह देखने मे होती हैं कि वे किन बातों मे एक-दूसरे से अलग हैं। लीजा को अंग्रेज़ो की यह नीति अच्छी नहीं लगती। अंत मे गोसाई जी की बात मान ली हैं। और सभी कांग्रेस कमेटी के सदस्य मिल जुल कर नालियो के सफाई के कार्य मे जुट जाते है।सफाई का कार्य समाप्त होने वाला था। उसी वक्त एक आदमी चिल्लाते हुए बोल उठा की मस्जिद की सीढी पर किसी ने सुअर को मार कर फेक दिया है।

इस स्थिति को देखते हुए कांग्रेस कमेटी के सचिव बक्शी जी किसी भंगी को बुला कर सुअर को मस्जिद की सीढी से हटा देने की नसीहत देते है,तो कुछ लोग उनकी बात से सहमत हैं और कुछ नहीं।अंत मे काग्रेस कमेटी के जनरेल और बक्शी जी मिल कर सुअर को वहाँ से निकाल कर दू रख देते है।उसी वक्त उन सभी लोगो के सामने से एक आदमी गाय को लेकर

उसी गली मे चला जा रहा हैं।इस दृश्य को के सभी सदस्य देखकर बुरी तरीके से डर जाते हैं। और बक्शी जी देर तक उस दृश्य को अपनी आंखो के सामने से हटा नहीं पाये और धीरे से बोल पड़े उठे ''लगता है शहर पर चीलें उड़ेंगी।आसार बहुत बुरे है।

माईं सत्तों की धर्मशाला के सामने गाय के कटे हुए अंग फेंके गए हैं। इससे शहर मे स्थितियाँ बिगड़ चुकी थी।हिन्दू अपनी रक्षा के लिए वानप्रस्थियों के मार्गदर्शन मे सोच विचार कर अपने बचाव के बारे मे सोचते हैं।मगर मुसलमान मस्जिद मे हथियार इकठ्ठा कर रहे है।इससे उत्तेजित लोग मुसलमानो से अपने बचाव के लिए और मुसलमानो पर आक्रमण किस तरह किया जाय इस बिषय पर चर्चा कर रहे हैं। कुछ लोग युवाओ को लाठी सीखाने की सलाह दे रहे है ऐसे अनेक सलाह-मशवरे अपने बचाव के लिए हो रहे थे।उसी मे से कोई डिप्टी कमिश्नर से मिलने की सलाह देते है लेकिन इस बात पर ध्यान नहीं देता हैं।

देवव्रत ने अखाड़े के संचालक तथा मास्टर के रूप प्रसिद्ध पाई थी क्योकि इसने कई शिष्यो को तैयार किया था।इनके कई शिष्यो मे से रणवीर नामक शिष्य बहुत करीब था मास्टर देवब्रत कुछ ऐसे लड़को को तैयार करना चाहता था जो फौलादी हो,किसी भी मुसीबत का सामना सीना- तानकर करे और विजय को अपनी जीत बनाए।इस काम के लिए उन्होने रणवीर को चुना।रणवीर एक मुर्गे का भी वध न कर सका, क्योकि वो कच्ची उम्र के सा धैर्यहीन भी था।परन्तु देवब्रत के झापड़ ने उसे फौलाद बना दिया है। वह मुर्गी का वध करने कामयाब हो जाता है।इतना ही नहीं,वह अपने साथियो के साथ मिल कर तेल गर्म करने की बात करता है और जहरीले बाण तैयार करने की योजना मे कार्यरत हो जाता है। इस प्रकार रणवीर फौलादी दिल बाण गया था।

हिन्दुधर्म से जुड़ा एक संस्था अपने बचाव के लिए एक मुहल्ला कमेटी गठन की बात करता है। लेकिन संस्था के मुखिया को इस बात का बहुत दुख है कि हिन्दुओ मे एकता कि बहुत कमी है संस्था के लाला जी कहते है कि घंटे को दुरुस्त करवा लिया जाय जब कोई समस्या आए तो उसे बजा दिया जाय जिससे लोग सचेत हो जाए समूह बैठा एक व्यक्ति बोलता है भले ही न लगे तो मुखिया जी कहते है इसी बात ने हिन्दुओ को कायर बना दिया है बात –बात पर खतरे से डरना इसी बात लिए हमारी खिल्ली उड़ायी जाती है हमारे युवको को करार और बनिया कह कर पुकारा जाता॥ तब बूढ़ा कहता है मेरी बात का बुरा मत मानो लेकिन डिप्टी कमिश्नर से मिलो अंग्रेज़ो का हमारे देश मे बहुत प्रभाव हैं वही कुछ कर सकता है।

इसी हिन्दू संस्था का एक व्यक्ति जो नवयुवको प्रशिक्षण देता है वो कहता देखो रणवीर हमे हिन्दू राष्ट्र की रक्षा के लिए हमारे हमारे पूर्वज कई हथियार का निर्माण किया था। जिसमे एक अग्नि बाण भी है हवा मे बाण तीव्र गति से आगे बढ़ता।उसके नोक घर्षण के कारण उसमे तीव्र चमक होती है उसमे अंगारे निकलते है महाभारत के युद्ध मे मे भी इसी तरह बाणों का प्रयोग होता था इस तरह वह नवयुवक को तैयार करता है।

डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड चाहता है तो इस दंगो को रोकने का पूर्ण प्रयास कर सकता था। कांग्रेस कमेटी के बक्शी जी और मेहता जी आदि लोगो ने रिचर्ड से निवेदन किया और कर्फ़्यू लगाने का सुझाव भी दिया॥और कहते आप चाहे तो सेना को बुलवा सकते है परंतु रिचर्ड इस फसाद को रोकना नहीं चाहता और ऊपर से उन कांग्रेस कमेटी के सदस्यो से कहता हैं यह सब मेरे अधिकार के बाहर मै कुछ नहीं कर सकता॥इससे साफ जाहिर होता है, कि

रिचर्ड का इस फसाद मे कहीं न कहीं हाथ है। इसी कारण वो इस मामले मे अपने आपको असहाय बता कर फसाद को बढ़ावा देता हैं।

पूरे शहर मे सुअर कि घटना को लेकर चर्चा थी। नथ्थू सूअर से संबन्धित बातो को सुनकर सिहर उठता था।उसे इस बात का डर था कि रहस्य खुल गया तो मेरा क्या होगा ?इस भय से मुक्ति पाने के लिए वो शराब का सहारा लेता सहसा रास्ते मे उसकी भेट मुराद अली से होती हैं वो नथ्थू से बात किए ही चला जाता हैं नथ्थू और घबरा जाता हैनथ्थू देर रात अपने घर पहुचता है उसकी बूढ़ी माँ तथा उसकी गर्भवती पत्नी उसका इंतजार करते करते परेशान हो गयी है। और पत्नी बार – बार देखने के लिए दरवाजे पर जाती है और लौट आती और बुरी अशंका से घबरा कर रोने लगती॥उसने मोहल्ले मे किसी से सुना हैं कि किसी ने मस्जिद के सामने सुअर को मार फेक दिया॥इस लिए उसको बलवा होने का डर सता रहा था।नथ्थू जब घर पहुंचता है तो वो राहत का सांस लेती हैं फिरवो उससे रोते हुये शिकायत करती है कहा था अब तक ?वो बोलता है काम से गया था इसलिए थोड़ा देर हो गयी।वो सुअर को मारने के कारण वो अपराधबोध से ग्रसित होता जा रहा है।उसको लगता है ये जो दंगा हो रहा है उसके सुअर मारने के कारण हो रहा है।नथ्थू अभी भी घर पर अपने हाव भाव से परेशान दिखता है।तो उसकी पत्नी उसको इस हालत मे देख कर परेशान हो जाती वो उससे पूछती है लेकिन कुछ बताता नहीं उसकी पत्नी सो जाती है लेकिन नथ्थू को नींद नहीं आती हैं।वो उठ कर घूमने टहलने लगता है इस बीच उसकी पत्नी कि आँख खुल जाती है वो उसको अपनी कसम दिलाती है तो नथ्थू सारी बात बताता है कि मस्जिद मे जो सुअर मरा पड़ा है उसको हमने ही मारा है ठेकेदार ने मुझसे सुअर मारने को कहा और कहा कि सलोतरी साहब को चाहये।फिर उसने मेरे हाथ मे पाँच रुपए रख दिये।मै कुछ बोल नहीं पाया क्योकि इसी ठेकेदार से हमे रोजी रोटी मिलती है यही काम दिलाता है।

कम्मों पूछती है कि सुअर तूने मस्जिद मे फेका था तो मना कर देता है और कहता है दूसरा आदमी सुअर को ठेले पर लाद कर ले गया था।उसकी पत्नी ने कहा बहुत बुरा हुआ।फिर उसने इसमे तेरी क्या गलती है।तेरा काम ही चमड़े का है तूने उसे मारा लोग उसे चाहे जो करे तुझसे क्या ?तूने कोई गलत काम नहीं किया ये मेहनत के पैसे है।और उसे रख लेती हैं।ये दोनों बात कर ही रहे होते है बाहर से हर –हर महादेव के नारे लग रहे है नथ्थू भर से बाहर आकर देखता तो लोगो के घर धू –धू करके जल रहे है।

फिल्म के दूसरे दृश्य मे हम देखते हैं लोगो के घरो मे आग लगाए जा रहे है।लोग एक दूसरे को मार रहे है लाला के घर के बाजू मे एक मुस्लिम परिवार रहता है वो लाला से कहता है कौन कराता है ये दंगा दंगे कराने का काम कोई आम आदमी नहीं कर सकता है इस बात पर लाला कहता बेशक फतेहअली।फतेह अली कहता है लाला जी आप घबराना नहीं इस मोहल्ले मे आपको कुछ नहीं होगा आप बेफिक्र रहे कोई फसादी आप तक नहीं पहुच पाएगा लाला इन लोगो का शुक्रिया बोलता है।

जब हिन्दू –मुसलमान के दंगे के बारे मे लीजा अफसोस करते हुई कहती है –'तुम्हारे रहते हुए फसाद हो गया रिचर्ड'' लीजा को बहुत बुरा लगता है और वह जबाब मे कहता है 'हम इनके धार्मिक विवादो मे दखल नहीं देते है"लीजा जबाब मे कहती है " ये लोग आपस मे लड़े, क्या ये सही बात है ? रिचर्ड फिर हँसते हुये कहता है "क्या ये सही बात होगी की ये मिलकर मेरे खिलाफ लड़े मेरा खून करे ?इस तरह कहते हुए वह लीजा कि बात दूसरी तरफ मोड देता है।

एक ओर लाला लक्ष्मी नारायण अपने बेटे रणबीर से चिन्तित।दूसरी ओर अपनी बेटी तथा पत्नी की हिम्मत बनाए रखने की कोशिश करता है।क्योकि शहर दंगो-फसादो का

भयानक वातावरण का निर्माण हो चुका है। लाला का पुत्र ऐसे विषम माहौल मे बाहर था।लाला अपने परिवार को बचाने के लिए बिना किसी झिझक के अपने नौकर ननकु के हाथ पत्र देकर भेजने को कहते है लेकिन उनकी पत्नी मना कर देती है वो बेचारा कहा जाएगा यहाँ पर वर्ग भेद मे अंतर साफ देखा जा सकता है इसको फिल्मकार बेहतर ढंग से दिखाया हैं।

शहर मे हर जगह मार-काट मची हुई है जगह हिन्दू मुसलमानो के मारे जाने की ख़बर आने लगी है ऐसे माहौल मे लाला दूसरे हिन्दू मोहल्ले मे जाना चाहता है उसकी मदद के लिए शाहनवाज़ आता है और लाला की परिवार को सुरक्षित उनके जानने वाले के यहाँ पहुचा देता है।लाला की पत्नी कहती है वह जल्दबाज़ी मे जेवरो को छोड़ आयी तो शहनवाज़ कहता है भाभी आप चिंता न करे मई अभी गाड़ी से गया और जेवर लेकर आया और शहनवाज़ लाला के घर जाता है वहाँ से जेवर उठाता लेकिन उसकी जेवर देख कर नियत खराब हो जाती है और वो ननकू को मारकर भाग जाता है।यहा कैसे एक इंसान लालच मे आकर धोखा देता है विश्वास नहीं होता है।

फसाद रुकने नाम नहीं ले रहा है ऐसे ही बढ़ता जा रहा है।और देवदत्त और और उसके कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यो का मत था की कांग्रेस और मुस्लिम लीग इन पार्टियो के बीच अगर एक सफलता पूर्वक शांतिपूर्ण चर्चा हो जाए तो स्थित पर काबू पाया जा सकता है।देवदत्त के इस प्रयत्न से से मुस्लिम लीग के लीडर हयात बक्शी के घर बैठक होती है।कांग्रेस कमेटी की ओर से बक्शी जी भाग लेते है और मुस्लिम लीग की ओर से हयातबक्शी। नारो की आवाजों के बीच मे देवदत्त शांति बनाए रखने की सहमति पत्र पर हयातबक्शी के दस्तखत करा लेता है।मगर ठीक उसी समय पता चलता है की जरनैल को

जान से मार दिया गया है।गांधी जी तरह मेरी भी लाश पर पाकिस्तान बनेगा।इस बात को वह पूरा नहीं कर पाया कि उसकी अंतिम सांस शरीर से निकल गयी।

हर मोहल्ले मे धर्म के नाम पर मार काट हो रही है।एक धर्मवाला दूसरे धर्मवाले को मार रहे है सांप्रदायिक का विष- बीज़ फैलता ही जा रहा है ऐसे ही भीषण स्थित बढ़ती जा रही है।इस भयानक वातावरण एक आदमी इत्र बेचने निकल पड़ता है तो एक हिन्दू लड़का उसके पेट मे चाकू भोक देता है इस तरह घटनाओ को देख कार नथ्थू स्वयं को इस फसाद का जड़ मानता है,बल्कि वह अपने आप मे सोचता रहता है,कि है सूअर नहीं मारा होता तो शायद ऐसी घटनाए नहीं होती।

पवित्र धर्म के नाम पर फसाद शहर से लेकर देहातो तक पहुच जाती हैं।गावों मे सामान्य लोगो –जीवन व्यवस्था पूरी तरह से डावाडोल हो जाती है।गावों पर इन दंगो दंगे फ़सादों का बहुत बुरा असर होता है जिस गाँव मे सालों से हरनाम सिंह और उसकी पत्नी बंटो दोनों एक साथ मिलकर अपने होटल के धंधा को चला रहे थे, फ़सादों के कारण बिगड़ी हुई हालत उस गावों मे भी प्रवेश कर चुकी थी।इसी वजह से इस बिगड़े माहौल से पत्नी बंटों, हरनाम को सावधान करती हुई गाँव छोड़ देने की सलाह देती है मगर हरनाम सिंह को अपने गाँव वालों पर विश्वास है।उनसे भी ज्यादा अपने मित्र करीम खान पर उस गाँव मे हरनाम सिंह ने उसी पर भरोसा रखा था।वही खुद आकर कह जाता है कि गाँव वाले भले तुमको कुछ न कहे,मगर बाहर जो दंगाई आ रहे है।उनसे तुमको बचाना मेरे लिए मुश्किल है ।करीम खान की इन बातों से हरनाम सिंह ठंडा पड़ जाता है।अपना सब कुछ छोड़ कर अपनी पत्नीबंटों के साथ हरनाम सिंह गाँव छोड़कर चल देता है

सुरक्षा व्यवस्था पर विचार चल रहा था गुरुद्वारे मेंगाँव के सभी सिक्ख गुरुद्वारे मे जमा हुए थे।सुरक्षा व्यवस्था के अलग मोर्चे पर विशन सिंह,किशन सिंह,निहंग सिंह आदि डटकर खड़े हुए थे।परन्तु मुसलमान एवं सिक्ख अपने-अपने हथियारो की तैयारी मे थे।बिगड़ती हुई इस भयानक, भयंकर स्थित को देखते हुए लोग इधर-उधर भाग रहे थे।

फिल्म मे हरनाम सिंह कि नथ्थू,तथा कांग्रेस कमेटी के सदस्य, डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड लाला लक्ष्मी परिवार आदि सभी साथ-साथ चल रहे है सभी कि कहानी समांतर चल रही है।हरनाम सिंह अपनी बंटों के साथ दर- बदर कि ठोकरे खाते हुए अपनी जान बचाने के लिए एक घर का दरवाजा दस्तक देते है।दरवाजा खुलने पर पता चलता है कि ये घर तो मुसलमान का है।घर के अंदर दो मुस्लिम औरते थी उनमे एक का नाम राजो है दूसरी राजो कि बहू अकरा थी।इस घर के मर्द बाहर गए थे। लेकिन राजो ने हरनाम सिंह और बंटों को पनाह दी तब उसे इस बात का ध्यान ही नहीं रहा कि ये दूसरे धर्म के है।राजो के इस पनाह से बहू अकरा ने तकरार भी किया।परंतु अकरा को सास कि उदारता अच्छी नहीं लगी।राजो उन्हे अनचाहे उन लोगो को अटाले पर पनाह दी।कुछ समय बाद उस घर का आदमी एहसान अली एक बड़ा सा ट्रंक लेकर आता है अटाले पर बैठे हरनाम सिंह ने ट्रंक को पहचान लेता है।मतलब इन्ही लोगो ने मेरा घर लूटा है।हरनाम सिंह सोचता है कि हम लोगो ने घर छोड़ कर अच्छा किया नहीं तो मारे जाते।एहसान अली के लाये ट्रंक का ताला अकरा हथौड़ी से तोड़ने लगती है, तो हरनाम सिंह आत्मविश्वास के साथ बोलता है एहसान अली मै हरनाम सिंह हू।"तुम्हारी घरवाली ने हमे पनाह दी है गुरु महराज तूमे सलामत रखे यह ट्रंक हमारा है,पर अब इसे तुम अपना ही समझो अच्छा हुआ जो ये तुम्हारे हाथ लगा किसी दूसरे के हाथ नहीं लगा ये लो चाभी और ताला खोल लो।"

हरनाम सिंह की बातो को सुनकर एहसान अली को धक्का सा लगा।एहसान अली हरनाम सिंह और बांटो फटकारते हुए कहता हैकि मै तो खुदा के वास्ते कुछ नहीं कहूँगा, मेरे बेटे रमजान को पता चला तो आपके साथ किस प्रकार क व्यवहार करेगा, मुझे मालूम नहीं।क्योकि हिन्दू मुसलमान के दंगो ने उसके मन मे दहशत भर दी है।रमजान अली रमजान अली के आते ही वही कुछ हुआ जो बाप ने कहा था।रमजान अली बुरी गालियां देने लगा दोनों को हरनाम और बांटो को बहुत बुरा लगा। उन्होने सोच ही लिया था कि अधिक से मर ही डालेगा और क्या होगा ?राजो अपने बेटे रमजान अली को डांटती है फिर भी वह गुस्से से अपना मुह बंद नहीं करता।बेटे के व्यवहार से राजो का मन शांत नहीं हुआ।राजो आधी रात के समय बंदूक और ट्रंक तथा जेवरो से भरी छोटी सी पोटली निकाल कर देती हुए बोलती है।ये तुम्हारे ट्रंक से निकला है,तुम्हारे दो गहने मै निकाल लायी हू तुम्हारे आगे कठिन समय है पास मे दो गहने हुए तो सहारा होगा।कहते हुए राजो उन दोनों को गाँव के उस हद तक छोड़ गयी, जहां तक वह विशेष खतरा महसूस करती है।

देहातो मे मुसलमानो से भी हिन्दू,सिक्ख लोग कम होते हुए भी युद्ध के बड़े से बड़े झटके सभाले हुए थे।युद्ध जोरों पर था मुसलमान मारे गए।बहुत से सरदार भी मारे गए।मुस्लिमो के डर से बहुत सारी सिख महिलाए कुआं मे कूद कर अपनी जान आहुति दे दी। वो मुस्लिमो के हाथ मे नहीं पड़ना चाहती थी और झुंड के झुंड कुए मे कूद गयी ये फिल्म मे ये दृश्य बहुत ही हृदय विदारक था।

एक हिन्दू लड़की पर कुछ मुसलमान की टोली के झपट पड़ते ही वह लड़की अपने बचाव के लिए भागने की कोशिश करती है।परंतु वह भय से भाग नहीं पाती है उस टोली के आठ दस लोग उसे दबोच लेते है प्रत्येक व्यक्ति उसकी अस्मत लूट लेता है। "कसम अल्लाह

पाक की, मेरी बारी आयी तो मैंने देखा वह लड़की मरी हुई है।" पशुता के के प्रतीक के रूप मे यह आदमी हँसते हुये कहता है।"मै लाश से ही जना किए जा रहा था।"इस प्रकार यहाँ पर खूंखार जानवर का एक चित्रण मिलता हैं।जब सब सर्वनाश हो चुका था उन लाशों को नोच - नोच कर खाने लिए आकाश मे बहुत सारी चीले कव्वे और गिद्ध मंडराने लगे थे।गाँव मे शमशान की स्तब्धता छाई हुई थी। फिल्म के कथानक मे स्वाभाविक रूप से रिचर्ड और लीजा का प्रसंग चलता रहता है कई गाँव आग की लपेटो मे उजड़ चुके है।अनेकों हिन्दु -मुस्लिम मौत के घाट उतार दिये गए है।हजारो लोग बेघर हो चुके है लोग बड़ी संख्या मे शरणार्थी कैंपो मे रह रहे है।बहुत सी संपति का नुकसान हुआ है कई मुहल्ला मे रिलीफ कमेटी नियुक्त की गयी है।और जान- माल की हुई क्षति की जानकारी ली जा रही है। इस बीच रिचर्ड अपनी पत्नी लीजा को बिगड़ी हुई इस हालात को दिखाने के लिए साथ ले जाना चाहते है।तो लीजा रिचर्ड से इस प्रकार कहती है "मुझे जलते गावों की सैर कराओगे ? मै कुछ भी नहीं चाहती, कहीं भी नहीं जाना चाहती"।

कांग्रेस कमेटी के सचिव बक्शी जी और मुस्लिम लीग के हयात साहब जैसे अच्छे लोग आपस के मतभेदों को भुला कर पूरे शहर मे शक्ति बनाए रखने के लिए एक –दूसरे के प्रति विश्वास पैदा करने के लिए शहर के चारो ओर जुलूस निकाल रहे थे।हिन्दू – मुस्लिम जिंदाबाद के नारे लगाए जा रहे थे।कांग्रेस कमेटी, कम्युनिस्ट और मुस्लिम लीग जगह –जगह घूमकर अमन कायम करने की याचना कर रहे थे।नथ्थू इस फ़साद मे मारा गया था, नहीं तो वो इस एकता पर मुराद अली से आगे होता।इस पूरे कथानक मे ध्यान से देखने से पता चलता है की रिचर्ड/ अंग्रेज़ का ही वह चेहरा है जो पर्दे के पीछे खड़ा होकर तमाशबीन बन कर दूर से से इस खेल को देखता रहा।

'तमस' गोविंद निहलनी की सबसे बेहतरीन फिल्म है यह हिन्दी की एक क्लासिक कृति है। गोविंद की एक क्लासिक फिल्म भी।भारतीय फिल्म तथा टेलीविज़न के इतिहास मे इस फिल्म को एक मील का पत्थर माना जा सकता है।इस फिल्म के आधार पर भी गोविंद अपने समय और समाज के एक शानदार फ़िल्मकार प्रमाणित होते है।विजय तेडुलकर ने लिखा है,-"गोविंद की फिल्मों मे कोई भी वास्तविक साहित्यक चेतना का अनुभव कर सकता है।' शब्द, कविता और नाटक के प्रति उनकी सलग्नता,उनकी फिल्मों मे दिखती है।...अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के प्रति वे ईमानदार और समर्पित है।"

**'पिंजर'**

पिंजर, सन 2003 में निर्मित फिल्मों में महत्वपूर्ण मानी है। इस फिल्म की महत्ता इसमें है। कि इसकी साहित्यकता लौकिकता, और कलात्मकता, इसकी विशेषता है। यह फिल्म इस अर्थ में साहित्यिक है कि यह हिन्दी तथा पंजाबी की विख्यात लेखका अमृता प्रीतम मे इसी शीर्षक के उपन्यास आधारित है। मात्र यह आधारित ही नही है बल्कि इसे उस साहित्यिक कृति का सिनेमा भी माना जा सकता है यो तो साहित्यिक रचनाओं पर बनी हिन्दी फिल्मों की एक लंबी परंपरा है, पर सभी फिल्में सही रूपात्तरण नही मानी जा सकती है कुछ फिल्मों मे कुछ फिल्मों मे ही केवल नाम ही कृति का रह जाता है और शेष सब कुछ इतना बदल जाता है कि वह साहित्य का कम से कम रह जाता है। और सिनेमा के ढांचे में पूरी तरह ढल जाता है।

ऐसी फिल्मों को यह कहना कि वे किसी साहित्यिक रचना पर आधारित है, सही नही लगता है। सिनेमा उसके साहित्य को लगभग मार ही देता है।

उसकी अपनी शर्ते इतनी भारी होती है कि साहित्य दम तोड़ता नजर आता है। कुछ फिल्मों हिन्दी में ऐसी जरूर बनी है जिनके विषय में यह अवश्य कहा जा सकता है कि वे किसी साहित्यिक रचना पर आधारित है, क्योंकि उसमें कृति के साहित्यिक सौन्दर्य की रक्षा यथासंम्भव और यथासाध्य करने की कोशिश मिलती है। वे एक फिल्म के रूप में जितनी सही जान पड़ती है, एक साहित्यिक रचना के रूप में लगभग उतनी सार्थक भी प्रतीत होती है। उसमें कम से कम साहित्यिक रचना पर आधारित होने की मर्यादा का निर्वाह किसी हद तक मिल जाता है, लेकिन हिन्दी में ऐसी भी फिल्में बनी है, जिन्हे साहित्यिक कृति का सिनेमा में रूपात्तरण माना जा सकता है, इसलिए कि भले ही वे सिनेमा माध्यम मे हो, लेकिन उसमें कृति का साहित्यिक सौन्दर्य लगभग पूरा सुरक्षित रहता है। ऐसी फिल्मों की संख्या कम है, पर है और पिंजर फिल्म उन कम फिल्मों में एक है। इस तरह की फिल्मे बनाना बहुत कठिन और चुनौती पूर्ण होता है क्योंकि इसमें एक सिनेमा निर्देशक को बहुत अधिक संयम से कार्य लेना पड़ता है और साहित्यिक कृति के साथ न्याय करने के लिए एक निर्देशक के रूप में अपने साथ काफी अन्याय भी करना पड़ता है। ऐसे में निर्देशक को यह भूलना पड़ता है। कि वह कोई फिल्म बना रहा है, बल्कि उसके सामने केवल सबसे बड़ी चुनौती यह रहती है कि वह किस तरह सिनेमा के माध्यम का उपयोग करते हुए भी एक प्रसिद्ध कृति को लगभग उसी तरह उसी सौन्दर्यबोध और सुंगध के साथ अपनी फिल्म मे पेश करे जो फिल्में किन्ही रचनाओं पर सही रूप में आधारित होती है, उसके फिल्मकार को साहित्यकार के सामान्तर एक पुन:सर्जक माना जाता है लेकिन पिंजर जैसी फिल्मों में निर्देशक एक पुन:सर्जक की भूमिका में कम और एक रूपान्तरणकार की भूमिका में अधिक होता है।

मानो वह कृति का अनुवाद साहित्य की भाषा की जगह सिनेमा की भाषा में कर रहा हो साहित्य एक शब्द माध्यम और सिनेमा एक दृश्य माध्यम। ऐसी फिल्मों में केवल माध्यम बदलता है रचना नही। यह सबसे कठिन और जटिल कार्य होता है। किसी साहित्यिक कृति को सिनेमा मे नष्ट-भृष्ट या उसकी आत्मा को मार देना सबसे आसान है। उस पर आधारित अपनी फिल्म को साहित्य और सिनेमा के सामान्तर रूप में प्रस्तुत करना उससे कठिन है, लेकिन सिनेमा के माध्यम का उपयोग करते हुए भी लक्ष्य साहित्य को बनाना सबसे कठिन होता। और पिंजर फिल्म में यही कार्य किया उसके निर्देशक डा. चन्द्र प्रकाश द्विवेदी ने सफलतापूर्वक किया है चूँकि यह फिल्म पंजाब की ग्रामीण पृष्ठभूमि पर बनी है, इसलिए इसमें पंजाब की खुशबू है। यानि फिल्म का वातावरण  हमें उसमें जीने का अनुभव प्रदान करता है और फिल्म कलात्मक इसलिए है कि इसमें सिनेमा-कला के साथ न्याय किया गया है साहित्य के सिनेमा रूपान्तरण के बावजूद  इसमें कलात्मकता न कम है और न ही अधिक। साहित्य को सिनेमा में रूपान्तरित और चरितार्थ करने के लिए जितनी कलात्मकता की सामान्यत: अपेक्षा की जा सकती है, उतनी इसमें है, इसलिए साहित्यकला, लौकिकता और कलात्मकता तीनों ही आधारो पर यह एक सफल और सार्थक फिल्म मानी जाती है।

इसकी कथा सन् 1947 के विभाजन के आस-पास के समय की है। मोहन लाल (कुलभूषण खरवंदा) अपनी पन्ती तारा (लिलेट दुबे) अपनी दो बेटियों, बड़ी बेटी पूरो (उर्मिला मतोंडकर) और छोटी बेटी रज्जो (इशा कोपिक्कर) के साथ अमृतसर में रहता था। उसका जवान बेटा त्रिलोक (प्रियाशुं चैटर्जी) अमृतसर में ही पढ़ाई कर रहा है बड़ी बेटी पूरो की शादी के लिए मोहनलाल अपने छत्तोबानी आ जाता है ताकि किसी योग्य वर की खोज पूरो के लिए की जा सके और उसका विवाह संपन्न हो जाए। पास के दूसरे गाँव के रत्तो पाल के होनहार बेटे रामचन्द्र (संजय पूरी) के साथ विवाह की बात पक्की हो जाती है, जो श्यामलाल

(आलोकनाथ) का बेटा है। श्यामलाल की पत्नी और रामचन्द्र की माँ की भूमिका में (फरीदाजलाल) ने निभाई है। रामचन्द्र की एक बहन भी है, जिसका नाम है लाजो (सान्दली सिन्हा) उस परिवार की परंपरा यह है। कि वे बेटी देते है और बेटा लेते है।

इसमें मोहनलाल को कोई कठिनाई नही थी, क्योकि उसका बेटा त्रिलोक भी विवाह योग्य हो चुका था। सगाई भी हो जाती है। रामचन्द्र की पत्नी बनने वाली थी पूरो और त्रिलोक की पत्नी बनने वाली थी, लाजो। दोनो ओर विवाह की तैयारियाँ चलती है। दोनों परिवारों में इसे लेकर काफी उत्साह है, लेकिन तभी एक अनहोनी हो जाती है। एक अप्रत्याशित दुर्घटना घट जाती है। एक दिन खेत से उसी गाँव का एक मुस्लिम युवक पूरो को घोड़े पर भगा ले जाता है और शादी की नियत से उसे एक एकांतवास में रख छोड़ता है। युवक का नामरशीद (मनोज वाजपेयी) वह गाँव के जिस मुसलमान परिवार से संबंध रखता है उसकी पुश्तैनी दुश्मनी है, मनोहर लाल के खानदान से। कभी मोहनलाल के पूर्वजों ने इस मुसलमान परिवार की लड़की को उठा लिया था। और आज उसी का बदला लेने के लिए रशीद पर दबाव डाला जाता है कि वह पूरो को विवाह के पहले ही उठा ले। हलांकि वह एक शरीफ इंसान है, लेकिन परिवार के बड़े-बुजुर्गो के आगे विवश है और फिर मामला दो खानदानों की पुरानी दुश्मनी का है, इसलिए उसे वलात पूरो को गांव से बाहर एक घर में कैद रखना पड़ता है और उसे मुस्लिम तरीके से पूरो के साथ ब्याह भी करना है। ब्याह के पहले वह कोई जोर-जबर्दस्ती नही करता है। पूरो इस घटना से पूरी तरह टूट-फूट हो जाती है।

एक दिन वह मौका पाकर वहां से भागकर अपने घर आती है तो है, लेकिन लोक-लाज के भय से उसके माँ-बाप उसे स्वीकार नही करते है। विवश होकर पूरो को न केवल रशीद के पास लौट आना पड़ता है, बल्कि उससे निकाह भी करना पड़ता है और उसका नाम हमीदा

रख दिया जाता है। पूरो के प्रसंग को उसके परिवार के लोग छिपाकर रखते है। त्रिलोक की शादी लाजो के साथ कर दी जाती है। और रज्जो का विवाह रामचन्द्र के एक निकट के भाई के साथ। पूरो का भाई अपनी बहन की खोज में पिता के मना करने के बाद भी लगा रहता है। जब उसे यह पता चलता है कि रशीद के परिवार ने पूरो को बलात उठा लिया था, वह उनके खेत में आग लगा देता है। उसी समय विभाजन की विभीषिका उत्पन्न हो जाती है, पूरो का परिवार अमृतसर लौट आता है, जो भारत में है और रामचन्द्र का परिवार पाकिस्तान में चला जाता है। पाकिस्तान से भारत आने के क्रम मे त्रिलोक की पत्नी, जो अपने मायके गई हुई थी, रास्ते में पाकिस्तानियों द्वारा उठा ली  जाती है। रामचन्द्र अब भी पूरो के इंतजार में रहता है।

इसी विभाजन के दौर-दौर में एक भारतीय लड़की को बचाने के क्रम में पुरो की भेंट रामचन्द्र से होती है और वह उस लड़की की सुरक्षा की जिम्मेदारी रामचन्द्र को सौप देती है। रामचन्द्र से जब उसे यह पता चलता है कि उसकी बहन को मुसलमान उठा ले गये तब वह अपने पति रशीद के साथ उसे खोजने के अभिपात में जुट जाती है। पूरो एक बार गर्भवती भी होती है, लेकिन उसका गर्भस्थ शिशु मर जाता है। उसी गांव की एक भीख मांगकर जीने वाली औरत को किसी अनाम आदमी से गर्भ ठहर जाता है और वह शिशु को जन्म देने के बाद मर जाती है। पूरो उस बच्चे को पालती है, लेकिन गांव के हिन्दु इस बात पर अपत्ति जताते है और बलात पूरो से उसका वह बच्चा छीन लिया जाता है। इस बात से रशीद को भी कष्ट होता है, इसलिए जब पूरो लाजो को खोजने का अभियान चलाती है, तो  रशीद भी जी-जान से उसमें लग जाता है ताकि पूरो को उठा लेने और उससे जबरजस्ती विवाह करने के अपने मानसिक बोझ को कम कर सके।और इसी रूप मे उसका प्रायश्चित भी।

अन्तत: लाजो का पता चल जाता है। और पूरो की चलाकी तथा रशीद के साहस से लाजो को उस मुसलमान परिवार से छुड़ा लिया जाता है, जहां उसे बलात रखा गया था, घर के युवक की पत्नी बनाकर। पूरो और रशीद, लाजो को लेकर कैम्प पहुँचते है जहां रामचन्द्र और त्रिलोकी भी है। त्रिलोकी कहता है। अपनी बहन से कि अब भी वह चाहे तो रामचन्द्र से विवाह करके एक नया जीवन बिता सकती है, लेकिन पूरो अब केवल शारीरिक रूप से ही नही, बल्कि मानसिक रूप से रशीद को अपना पति मान चुकी होती है, उसकी भलमनसाहत के चलते। वह अब अपना शेष जीवन पाकिस्तान में ही रशीद के साथ बिताने का निर्णय करती है और शेष लोग पुलिस की सहायता से भारत लौट जाते है। पूरो के इस कथन के साथ कि जब भी कोई लड़की हादसों का शिकार होकर भी अपने वतन और अपने घर लौटती है, तो जैसे उसके साथ पूरो भी लौटती है, यही कहानी समाप्त हो जाती है।

इस फिल्म के निर्देशक है, चन्द्र प्रकाश द्विवेदी, जिन्हें दूरदर्शन में उनके ऐतिहासिक धारावाहिक चाणक्य के लिए बहुत ख्याति मिली थी निश्चय ही वह अपने ढंग का एक महत्वपूर्ण धारावाहिक था। और उसे भारतीय दूरदर्शन के इतिहास में एक मील का पत्थर माना जा सकता है, कोई ऐसा ही संवेदनशील, समझदार और समर्पित व्यक्ति ही 'पिंजर' जैसी फिल्म बना सकता था। बॉलीवुड की धारा में बहने वाले किसी निर्देशक की दृष्टि सामान्यत: ऐसी साहित्यिक रचनाओं की ओर जाती भी नही है। एक बॉलीवुड के अलावा शेष भारतीय फिल्मकारों, चाहे वे किसी भी प्रदेश के क्यों न हों, की नजर साहित्यिक रचनाओं की और लंबे

समय से जाती रही है। भारत में सबसे लोकप्रिय बाँलीवुड सिनेमा माना जाता है, जो कि मूलत: हिन्दी भाषा का सिनेमा है लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि यहां के निर्देशको का ध्यान साहित्य पर कम-से-कम जाता है। साहित्य की दृष्टि से यह कहना शायद गलत नही होगा कि भारतीय सिनेमा में सबसे कम साहित्यिक हिन्दी सिनेमा ही है। उसकी तुलना में हमारे देश का प्रादेशिक सिनेमा अधिक साहित्यिक माना जा सकता है। बंगाल और केरल का सिनेमा इन मायने में अग्रणी है। इस फिल्म का निर्देशक चंद्रप्रकाश का होना, हिन्दी सिनेमा का सौभाग्य है और पिंजर जैसी साहित्यिक कृति का भी। हिन्दी एवं पंजाबी की प्रसिद्ध लेखिका अमृता प्रीतम के उपन्यास पर पटकथा लेखन कार्य की चन्द्रप्रकाश द्विवेदी ने स्वयं ही किया है।

**साहित्यिक कृति 'पिंजर' पर फिल्म निर्माण :-**

चूँकि यह फिल्म एक प्रसिद्ध साहित्यिक कृति पर बनी है और इस उपन्यास की लेखिका अमृता प्रीतम भी उतनी ही विख्यात है, इसलिए फिल्म के प्रति सिनेमा के प्रबुद्ध दर्शकों में एक स्वाभाविक सराहना का भाव उपजता है। हिन्दी में एक तो ऐसी कालजयी रचनाओं पर फिल्में बनती ही कम है और जो बनती है, वे इतनी स्तरहीन होती है कि यह अनुभव ही नही होता है कि हम किसी साहित्यिक रचना को सिनेमा में देख रहे है। पिंजर के पक्ष में जो बात सबसे पहले और सबसे विशेष रूप में सामने आती है कि यह एक विख्यात लेखिका की प्रसिद्ध साहित्यिक रचना को सिनेमा के भाषा में रूपान्तरित करती है और यथासंभव उसके साथ न्याय भी करती है। फिल्म में अन्य किसी तरह की कोई विशेषता नही भी होती तो इतना भर भी कम नही है खासकर हिन्दी सिनेमा के क्षेत्र में। इस फिल्म की जो विशेषताएं हमें किसी न किसी स्तर और रूप में प्रभावित करती है, उनमें कुछ एक का उल्लेख

करना आवश्यक प्रतीत होता है। फिल्म की नामावली जब उभरती है तब एक साथ सामान्तर रूप में दो बातें ऐसी मिलती है, जिनकी प्रशंसा अवश्य की जा सकती है, उनमें पहली है, एक गीत जो बहुत मार्मिक प्रतीत होता है, जारी रहता है और दूसरे पंजाब की पृष्ठभूमि और परिवेश को चित्रित करने वाले स्थिर चित्र भी दिखलाई देते है इन सबसे फिल्म का एक सही और अपेक्षित परिप्रेक्ष्य निर्मित होता है। नामावली, गीत और चित्र, तीनो मिलकर फिल्म के विषय में लगभग सारी आरंभिक और आवश्यक जानकारी दे देते है। ऐसा बहुत कम फिल्मों में देखने को मिलता है। सामान्यत: नामावली को विभिन्न ग्राफिम्स के माध्यम से अधिक-से-अधिक आकर्षक बनाने का प्रयास किया जाता है।

**'पिंजर' का आरंभ---**

फिल्म जब आरंभ होती है 'पिंजर' का नाम लाल रंग में आता है उसके बाद नामावली में स्टिल फोटो में लोगो का बड़ी समूह के साथ पैदल तथा गांडी पर लोगो का चढ़े हुए दिखाई पड़ना। इसी तरह के कई फोटोग्राफ दिखाई पड़ते है। तथा फिल्म के पहले सीन में अगस्त 1946 के साथ स्वर्णमंदिर का दिखाई पड़ना। और ऐसा जहां कही मिलता है, दर्शक उसी समय से फिल्म के परिवेश और पात्रो के साथ मानसिक धरातल पर जुड़ने लगता है। हिन्दी सिनेमा के निर्माता नामावली को फिल्म से अलग करके देखने के आदी होते है, जबकि वह फिल्म की भूमिका होती है और एक तरह से फिल्म वहीं से शुरू हो जाती है।

भारत के जितने कलात्मक फिल्मकार है और विश्व के भी जितने क्लासिक फिल्म-निर्देशक है वे नामावली के महत्व और अर्थ को जानते है, इसलिए उनकी नामावली एक प्रकार से उनकी फिल्म की पूर्व सूचना बन जाती है। यह विशेषता इस फिल्म में भी मिलती है। स्वर्ण मंदिर देखने या उसके विषय में सुनने भर से पंजाब हमारी आंखो के सामने अपनी पूरी

विविधता और विस्तार के साथ उभर आता है। पंजाब का रंग रूप हमारे भीतर आकार लेने लगता है। और वहाँ की मिट्टी की सुंगंध भीतर भरने लगती है। पंजाब और स्वर्ग मंदिर एक-दूसरे की पहचान और पूरक ही नही, बल्कि एक-दूसरे के पर्याय भी है फिल्म के आरंभ में स्वर्ण मंदिर का दर्शन मात्र पंजाब से हमें मानसिक रूप से जोड़ने में समर्थ होता है। पंजाब से हमें जोड़ने के लिए शायद इससे बढ़कर अन्य कोई प्रतीक नही हो सकता है।

उसी के साथ गुलजार की गंभीर और सम्मोहक आवाज में जो नरेशन हमें सुनाई पड़ता है, वह एक कविता की तरह हमारे मन-मस्तिष्क पर छाने लगता है। इन प्रतीकों और प्रयोगों के लिए निर्देशक की प्रशंसा की जा सकती है। फिल्म के आरंभ में विभाजन की बासदी और भागते, मरते, कटते लोग, उनकी चीख-पुकार, भगदड़ दृश्यों का जो कोलाज सामने आता है, वह फिल्म की पृष्ठभूमि को उभारने में सक्षम है। साथ ही लिखित रूप में यह ज्ञात रखी गई है। कि इस फिल्म में केवल किरदारों के नाम ही झूठे है , पर शेष सब कुछ सच है। फिल्म देखने के बाद यह बात चरितार्थ होती हुई प्रतीत होती है,। बल्कि फिल्म के किरदार इतने जीवंत है कि उनके नाम सच नही होते हुए भी अंत तक मानो सच प्रमाणित होते जाते है। यहां तक कि विभाजन के दृश्यों से हमारा साक्षात्कार होता है, लेकिन जब फिल्म आरंभ हो जाती है अर्थात् जब फिल्म की कहानी शुरू होती है तब हम ठीक इसके विपरीत विभाजन से पूर्व के पंजाब के साथ जुड़ते है।

वही पंजाब जो कालान्तर में विभाजन की त्रासदी झेलने और उसकी आग में झुलसने को विवश हुआ, उससे पूर्व के पंजाब की खुशहाली और हरियाली हमारा मन मोह लेती है। किसी प्रदेश विशेष को अपनी फिल्म का विषय बनाना आसान है, लेकिन उस परिवेश को इतने जीवंत रूप में पेश करना कि दर्शक वहां अपनी उपस्थिति का अनुभव करने लगे यह

काफी कठिन होता है। जब तक कोई फिल्मकार दर्शको को अपनी फिल्म के परिवेश के साथ जोड़ने में सफल नही होता है, जब तक वह परिवेश केवल एक आकर्षण के रूप में भी बना रहता है, अनुभव के रूप में नही। इस फिल्म में पंजाब की सुंगंध भी है और सौन्दर्य भी। ऐसी भी बात नही है कि इसमें पंजाब को एक गुलदस्ते के रूप में पेश किया गया है, बल्कि उसी पंजाब की धरती पर विभाजन के समय जो खून-खराबा होता है, उसे भी उतनी ही सजीदगी से दिखाया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि पंजाब विभाजन का सबसे पहला और सबसे बुरा शिकार बना, इस तरह इस फिल्म में इस प्रदेश के काले-सफेद दोनो पक्षों को चित्रित करने में फिल्मकार को सफलता मिली है।

निर्देशक ने पंजाब की त्रासदी को विभाजन की त्रासदी के माध्यम से व्यम्त किया है। इसके लिए उसके दृश्य-विधान पर विशेष ध्यान दिया है। पूरो को जिस तरह रशीद घोड़े पर सवार होकर भगा ले जाता है, वह इतने अचानक और अप्रत्याशित रूप में घटता है कि दृश्य अपना अपेक्षित प्रभाव डालने में समर्थ होता है। यह दृश्य इसलिए भी काफी महत्वपूर्ण है कि इससे कहानी में एक नाटकीय मोड़ आता है। पूरो के अपरहरण के बाद उस परिवार में जो एक भूचाल की सी स्थिति आती है, वह बहुत स्वाभाविक है। एक ओर पूरो की रामचन्द्र से विवाह की तैयारियाँ चल रही है और दूसरी ओर पूरो का अपहरण हो चुका है और तीसरी ओर समाज की नजरों से इस बात को छिपाकर भी रखना है। क्योकि मामला मात्र पूरो और रामचन्द्र के विवाह का ही नही, बल्कि त्रिलोक और लाजो के विवाह का भी है। ऐसी विषम परिस्थिति में एक परिवार की जो मानसिक स्थिति हो सकती है, उसे चित्रित करने में फिल्मकार सफल प्रतीत होता है,। क्योकि उस परिवार के पीड़ा को हम अनुभव कर सकते है। ऐसा इसलिए संभव हुआ है, क्योकि फिल्म को काफी रच-बस का बनाया गया है, बनाते समय इस बात का विशेष

ध्यान रखा गया है, कि सिर्फ हिन्दू-मुस्लिम दंगो को विषय बनाकर फिल्म बनाना ही एकमात्र लक्ष्य नही है, बल्कि एक चर्चित साहित्यिक रचना को सिनेमा में उतारना उससे बड़ा लक्ष्य है।

चूंकि फिल्मकार का ध्यान छोटे लक्ष्य की बनिस्प बड़े लक्ष्य पर अधिक रहा है, इसलिए उसकी उपलब्धि भी बड़ी प्रमाणित हुई है। विषय की दृष्टि से भी यह फिल्म और वह रचना दोनों ही विशेष माने जा सकते है। जब एक ओर पाकिस्तान और दूसरी ओर भारत विभाजन की लपटों में झुलस रहे है, वहां एक हिन्दू लड़की के मन में क्रमश: और कालान्तर में एक मुसलमान युवक के प्रति अनुराग उत्पन्न हो रहा है।

ऐसी विषम और विषाम्त स्थिति में उस अनुराग का मूल्य और महत्व अधिक होता है, जो मानवीयता से किसी को भी प्रभावित कर सकता है। फिल्म में यह नहीं दिखाया गया है कि हर मुसलमान बुरा और हिंसक होता है और न हर हिन्दू उदार और दयावान् बल्कि-दोनों ओर के लोगों और समाजों के-काले-सफेद पक्षों को ईमानदारी से दिखाया गया है, जहां तक चारित्रिक दृष्टि से रशीद की बात है, वह पूरो को न तो बलात उठाना चाहता था और न ही उससे विवाह करने को उसकी कोई नियत थी, बल्कि वह गांव के दो मित्र धर्मो के परिवारों की खानदानी दुश्मनी के कारण यह सब करने के लिए दबाववश विवश हो जाता है, इसीलिए फिल्म के अंत तक उसके मन में पश्चाताप की भावना रहती है और भरसक पूरो और उसके परिवार की सहायता करने में अपनी जान की भी परवाह नहीं करता है। उसकी इस भलमनसाहत और मानवीयता के कारण ही पूरो पाकिस्तान में उसके साथ ही उसकी पत्नी के रूप में अपना शेष जीवन बिताने का निर्णय करती है। इस तरह रशीद मुसलमान होते हुए भी मानवीय है लेकिन दूसरी ओर जब गांव की भिखारिन एक बच्चे को जन्म देकर मर जाती है और जिस बच्चे को पूरो अपने बच्चे की तरह पालती-पोसती है, उसे गांव के हिन्दू जबरदस्ती

उससे छीनकर इसलिए ले जाते है कि वह भिखारिन एक हिन्दू थी और उसके हिन्दू बच्चे को पालने का अधिकार किसी मुसलमान को नही दिया जा सकता है।

यह कठोर और निर्भय निर्णय इसलिए लिया जाता है कि रशीद मुसलमान था और उसकी बीवी हमीदा को भी वे मुसलमान ही समझते है,। जबकि उन्हे पूरो के रूप में उसकी वास्तविकता की जानकारी नही होती है। शायद जानकारी होती भी तो वे ऐसा ही करते क्योकि उनमें धार्मिक कट्टरता की भावना ही अधिक सघन थी। एक विशेष गीत को इस फिल्म में एक थीम सांग, अर्थात कथ्यगीत के रूप में बार-बार सुनाया गया है उसका चयन इतना सटीक है और वह इतना करूणिक तथा मार्मिक है तथा कथा के विभिन्न प्रसंगो में उसका उपयोग इतने सार्थक ढंग से किया गया है कि वह पूरी फिल्म की अर्थवत्ता और गुणवत्ता के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देता है। फिल्म मे एक प्रसंग बहुत महत्वपूर्ण और अर्थपूर्ण है।

जब रशीद के साथ पूरो का  निकाह हो जाता है, तब रशीद एक दिन किसी को घर बुला लाता है ताकि वह पूरो के हाथ में उसका नया मुस्लिम नाम हमीदा गोद दे। नाम गुद जाने के बाद पूरो का जैसे अस्तित्व इसका विरोध करता है लेकिन वह मिटता नही है यह पूरो के मन पर एक दाग-धब्बे की तरह गुदा रहता है। लेकिन जब पूरो और रशीद दूसरे गांव में लाजो को खोजने के अभियान पर निकलते है पर पूरो खेत बेचने के बहाने गांव के घर्घर में जाकर लाजों की तलाश करती है, तब एक दिन वह गांव के लोगो को शक का शिकार बनती है, उस समय उनके शक को दूर करने का एक मात्र प्रभाव पूरो के पास वही होता है , उसके साथ पर गुदा हुआ उसका नया नाम हमीदा। इस तरह दो भिन्न प्रसंगो में इसका जो उपयोग किया गया है, वह किसी भी दर्शक को न केवल प्रभावित करता है, बल्कि उसे सुकून भी पहुँचाता है कि इसके चलते पूरो उनके शक के दायरे से मुक्त होने में कामयाब हो गई है। फिल्म में जितने भी

नृत्य और गीत है वे सभी पंजाब की मिट्टी की सुंगध से परिपूर्ण है उनमें सहजता है जीवंतता है सजीवता है और प्रादेशिक स्पर्श है, जो हमें अपने निजी दुनिया से बाहर ले जाकर एक अन्य प्रदेश और प्रदेश के जीवन से जोड़ देता है पूरी फिल्म एक क्षण के लिए भी अपने अंचल से अलग-अलग नही होती है। इस रूप में यह हमारे आन्तरिक संसार का एक अंग बन जाती है बहुत कम फिल्मों मे ऐसा होता है कि कोई प्रदेश  इतना मुखर और जीवंत हो पाये।

## मुख्यधारा सिनेमा से हट कर –

अधिकतर बालीवुड सिनेमा आरंभ में भले ही किसी प्रदेश विशेष की जमीन से जुड़ी दिखलाई पडे, पर बाद में बड़ी चालाकी से उसे मुम्बई ले आया जाता हैं, चाहे वह धोखे से या फिर फिल्म के किसी पात्र को मुंबई लाकर। इससे फिल्म दर्शको को मानसिक व शारीरिक रूप स जोड़ने में कम ही सफल हो पाती है।

लेकिन यह फिल्म हमें हर समय, हर प्रसंग और दृश्य में पंजाब की पृष्ठभूमि का अनुभव दिलाती रहती है। जब पूरो अपने रिश्ते की अम्मा की आँख के इलाज के लिए रत्तोवाल आती है। तब उसके मन की उथल-पुथल अनुभवगम्य बन जाता है। उसके मन में अब भी रामचन्द्र बसा हुआ है और वह एक बार भर नजर उसे देख लेना चाहती है। उसकी तड़प व छटपटाहट हमारे गहरे अनुभव का विषय बनता है। रामचन्द्र से साक्षात्कार होने पर अपनी पूरी पीड़ा अपने भीतर संजोए जिस तरह से पूरो वहां से भाग जाती है वह दृश्य भी स्मरणीय है। इस फिल्म का केन्द्रीय चरित्र पूरो ही है और इस चरित्र को जीवंत बनाने में उर्मिला मतोंडकर ने कोई कोर-कसर नही छोड़ी है। हर क्षण वह अपनी भूमिका को जीती हुई ही

दिखलाई पड़ती है। निश्चय ही वह फिल्म उर्मिला के अभिनय कैरियर की एक महत्वपूर्ण उल्लेखनीय फिल्म है।

ऐसी फिल्में ही बालीवुड को नाचने-गाने, लटके-झटके दिखानी वाली और रोमांच तथा रोमांस के नाम पर उछल-कूद करने वाली नायिकाओं को अपनी प्रतिभा दिखाने का अवसर देती है। ऐसी एक कलात्मक और साहित्यिक फिल्म उनकी सौ सामान्य और सतही फिल्मों भर भारी पड़ती है। उर्मिला की तरह मनोज वाजपेयी ने भी इस फिल्म में बहुत संयत और सन्तुलित तथा स्वाभाविक अभिनय किया है, एक हिन्दू से मुस्लिम बनने का अभिशाप जिस तरह पूरो झेलती है, उसी तरह खानदानी दुश्मनी के दबाव में आकर एक मुसलमान होकर भी बलात हिन्दू युवती को उठा लाकर ब्याह करने का तनाव रशीद भी झेलता है। फिल्म में कई दृश्यों में हम रशीद के मन के द्वंद्व और पश्चाताप को अनुभव कर सकते है। यही कारण है कि भूमिका के लिहाज से एक खलनायक होने के बाद भी रशीद हमारी सहानुभूति का पात्र बनता है और अन्ततः पूरो का दिल जीतता है। इस तरह के द्वंद्वग्रस्त और पश्चाताप पूर्ण भूमिका निभाना आसान नही होता है।

खलनायक व्यवहार के बावजूद दर्शको के लिए एक नायक प्रमाणित होना अभिनय की दृष्टि से एक जटिल कार्य हैं, लेकिन मनोज वाजपेयी ने इस भूमिका को काफी हर तक सजीव बना दिया है,। इसीलिए जब फिल्म के अंत में पूरो के पास एक विकल्प के बावजूद कि वह भारत लौट आए और अब तक अविवाहित रहकर पूरो का इंतजार करने वाले रामचन्द्र से विवाह करने एक नया जीवन अपने देश में, तथा अपने लोगो के बीच व्यतीत करे, पूरो रशीद का ही चुनाव कर ही है। और यहीं यह प्रमाणित भी हो जाता है। कि सरहदों, मुल्कों और धर्मो

से कहीं बढ़कर होता है इंसानी रिश्ता। वह मजबूत हो तो सरहदों और धर्मो की सीमाएं कोई अर्थ नही रखतीं।

आज तक पूरी दुनिया में इन मानवीन संबंधो की सघनता ने ही दुनिया में घृणा की जगह प्रेम के बीज बोए है। चाहे वह दुनिया का कोई भी हिस्सा क्यों न हो और वह किसी भी धार्मिक हिंसा मामला क्यों न हो। फिल्म के अंतिम हिस्से में एक बात यह सामने आती है कि भारत और पाकिस्तान के बंटवारे के बाद दोनो देशों के बाद एक समझौता होता है कि हादसों का शिकार होकर कोई भी औरत यदि किसी दूसरे मुल्क में चली गई है या ले जाई गई है, ऐसी तमाम महिलाओ और लड़कियो को खोजकर उन्हे अपने-अपने देशो में भेजा जायेगा। यह एक मानवीय तथा ऐतिहासिक निर्णय था। इस निर्णय से कितनों को कितना लाभ हुआ और कितनी औरतें लुट-पिटकर भी अन्ततः अपने देश, गांव और घर पहुँच गई।

यह जानकारी ही संभव नही हैं, लेकिन मानवीय पहलू का स्वागत तो किया ही जा सकता हैं, जो शायद पहली बार इस साहित्यिक और इस सिनेमा के माध्यम से हमारे सामने आता है फिल्म के अंत में त्रिलोक के इस सुझाव पर कि वह उनके साथ देश लौट चले, रामचन्द्र से विवाह करे और एक नया जीवन शुरू करे, पूरो एक मार्मिक बात कहती है कि वह तो नहीं जा सकेगी रशीद और पाकिस्तान को छोड़कर, लेकिन इन हादसों के बाद एक भी लड़की अपने घर लौटती है तो समझना उसके साथ पूरो भी लौटी है। इस तरह नहीं लौटकर भी पूरो लौटती है। उसके लौटने से अधिक महत्वपूर्ण और मानवीय उसका नही लौटना, जो इस रचना और उस पर आधारित इस फिल्म का मूल संदेश है। दो देशों के बीच घृणा और हिंसा को कम करने तथा समाप्त करने की दृष्टि से यह संदेश हमारे अपने देश के लिए जितना सही है

पूरी दुनिया के लिए उतना ही सारगर्भित है। फिल्म की सफलता और सार्थकता का यही मुख्य कारण भी है।

उपन्यास की लेखिका अमृता प्रीतम अपनी साहित्यिकता के जरिए और चन्द्रप्रकाश द्विवेदी अपनी कलात्मकता के माध्यम से इसी मानवीय संदेश का सम्यक प्रचार-प्रसार करने में सक्षम दिखते है।

**एक मूल्यांकन :-**

इस फिल्म में पूरो के भाई त्रिलोक को आरंभ में एक देश-प्रेमी युवक के रूप में दिखाया गया है, लेकिन उसके व्यक्तित्व के इस पक्ष को किसी भी प्रसंग में विस्तार नहीं दिखाया गया है। सिर्फ चर्चा ही होती है कि वह महात्मा गांधी से प्रभावित है और देश की आजादी का सपना देखता है, उसके लिए कुछ कर गुजरना भी चाहता है। लेकिन इसे इतना सीमित कर दिया गया है कि उसके व्यक्तित्व का यह पक्ष आधा-अधूरा रह जाता है। जबकि उसे किंचित विस्तार देना आवश्यक था। इसलिए भी आवश्यक था कि दो देशों के रूप में जो बँटवारा हुआ है, उसके पीछे आजादी की लड़ाई ही मुख्य थी और अंग्रेजों ने देश के बँटवारे की शर्त पर ही हमें आजादी दी थी, विभाजन उसी का एक परिणाम है। जब फिल्म की पृष्ठभूमि ही विभाजन है और परिवार का एक युवा सदस्य इस आजादी की भावना से जुड़ा हुआ है, तब यह अपेक्षा बनती है कि उसे भी फिल्म में कुछ प्रमुखता दी जानी चाहये। ऐसा न हो पाना फिल्म की एक कमी बन जाती है। पूरो के पिता मोहनलाल की तीन युवा संताने पहले से ही है पूरो रज्जो और त्रिलोकी, उस पर उनकी चौथी संतान भी होती है जो बहुत अटपटी लगती है।

आश्चर्य की बात यह कि इसे फिल्म में एक बड़े स्वाभाविक प्रसंग के रूप में चित्रित किया गया है। इतनी बड़ी और युवा संतानों के होते और खासकर दोनो लड़कियों के विवाह

प्रसंग के बीच अपनी सबसे छोटी संतान को गोंद में लिए पूरो की माँ भी बहुत बेढ़ब लगती है। यह बात भी कम खटकने वाली नही है। कि रशीद ने पूरो का अपहरण कर लिया है और उससे शादी रचाने के लिए वह गांव के बाहर एक कोठरी में उसे बंद रखता है, लेकिन पूरे गांव में इसकी किसी को कोई खोज-खबर नही लगती है। सामान्यत: गाँवो में ऐसी बातें छिपती नही है, इसलिए, उसे छिपाए रखने में पूरो के मां-बाप की सफलता पर संदेह ही होता है। जिस पूरो का विवाह होना है और विवाह की रस्में चल रही है, वहाँ पूरो का परिवार के बीच से गायब हो जाना कोई छोटी बात नही है कि गांव में किसी को शक न हो और न कोई जानकारी। पूरो जब किसी तरह रशीद के चंगुल से छूटकर अपने घर लौटती है। हर मां-बाप की यह कठोरता या विवशता समझ मे नही आती है कि वे पूरो को अपनाने से अस्वीकार कर देते है। कारण यह है कि परिवार में विवाह की तैयारियाँ चल रही है। इस बात को कुछ और तीव्रता से अभिव्यक्त करने की आवश्यकता थी। जिस तरह एक तड़प के साथ अपने घर जाती है, जिस तरह लुटी-पिटी-सी लौट आती है, वह बहुत आश्वस्त कारक नहीं है।

फिल्मकार को इस पर कुछ अधिक ध्यान देना चाहिए था, जिससे उनकी मजबूरी और पूरो का पुन: रशीद के साथ लौटना दोनों ही हमें स्वाभाविक लगते। उस प्रसंग को इतनी जल्दी, लगभग एक झटके से निकाल दिया गया है कि वह स्थिति ठीक से निर्मित नही हो पाती हूँ जबकि स्थिति अपने आप में बहुत कारूणिक और मर्मस्पर्शी है। वह दृश्य अपनी अपेक्षा से बहुत कम प्रभावी बन पाई है, एक बात जो खटकती है, वह यह है कि फिल्म के हर महत्वपूर्ण दृश्य को गीतो से जोड़ा गया है। यहां तक कि अत्यन्त तनावपूर्ण और हिंसक दृश्योंको भी। जब कि यह गीत-प्रधान फिल्म नही है गीतों के अधिक प्रयोग से कई बार स्थितियों की सहायता और तीव्रता में कमी आ जाती है और यह कई दृश्यों में हुआ भी है। जिस तरह पूरो खेत बेचने

के बहाने रशीद की सहायता से लाजो को गांव में ढूँढने का कार्य करती है, वह रोचक है लेकिन कुछ नाटकीय और अस्वाभाविक अधिक लगता है।

एक बात समझ में नहीं आती है कि हिन्दू लड़कियों को भगाकर उन्हें अपनी बीवी बनाने के प्रति मुसलामन पुरूषों में इतनी रूचि आखिर क्यों है? पूरो की बात और है,। लेकिन लाजो का प्रसंग यह सवाल अवश्य उठाता है। वह किसी मुसलमान व्यक्ति के द्वारा अपहरण होती है उसके साथ बीवी की तरह, भले ही उसकी मनमर्जी के खिलाफ रहती है जिसे उसकी सास भी इस तरह स्वीकार करती है, जैसे वह उसके बेटे की ब्याही बहू हो। ऐसी बात तो नहीं कि पाकिस्तान के उन क्षेत्रों में लड़कियों की कोई कमी हो। कि मुस्लिम पुरूष इस बात का इंतजार करें कि वे किसी अपहरण हिन्दू लड़की को अपनी घरवाली बनाएं। फिल्म का प्रथम पक्ष जितना सधन लगता है, उसका दूसरा पक्ष उतना ही ढीला होता है। पहले पक्ष में एक क्रम है, गति हैं, प्रवाह है, लेकिन दूसरा पक्ष उसकी तुलना में कुछ कमजोर और बिखरा हुआ लगता है। इस दूसरे पक्ष पर कुछ अधिक ध्यान देने की आवश्यकता थी, तब दोनों पक्षों का सन्तुलन, इस फिल्म को और भी ऊंचाई तथा स्तररीयता प्रदान कर सकता था।

उसके अभाव में फिल्म में अछूतापन मिलता है। हिन्दी फिल्मों की एक प्रवृत्ति सामान्यत: यह रही है कि वे अन्तराल तक मजे से चलती है, लगभग फिल्म का सारा मनोरंजन उसमें ड़ाल दिया जाता है और बाद का पक्ष एक भगदड़ में निकलता है। इसमें विपरीत इस फिल्म का आरंभिक पक्ष काफी संभला हुआ लगता है और दूसरे पक्ष में फिल्मकार की पकड़ से कुछ छूटता हुआ जान पड़ता है। दोनों पक्षों के बीच एक सन्तुलन की स्थिति बनाने में फिल्मकार को किंचित् असफलता हाथ लगी है, अन्यथा यह एक क्लासिक रचना की भांति

एक क्लासिक फिल्म भी बनती, पर अब यह सिर्फ एक कलात्मक फिल्म ही बन पाई है और उनका क्लासिक्स तत्व कुछ पिछड़ गया है।

पिंजर बालीवुड बाजार की फिल्म नही हैं यह फिल्म उस बाजार के कीचड़ में एक कमल की तरह दिखती है बालीवुड फिल्मों की जो आम वृति–प्रवृत्ति है, उससे यह फिल्म हर मायने में अलग और विशिष्ट है। जिस समय बालीवुड सिनेमा पर माफिया का शिकंजा था, उस समय ऐसी फिल्म का निर्माण एक साहस का काम है। यह हिन्दी सिनेमा की लोकरूचि और रूझान से भिन्न है। फिल्म देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है यह फिल्म निर्देशक चन्द्रप्रकाश द्विवेदी की निजी रूचि और संलग्नता के कारण बनी है। 'पिंजर' में न तो स्वत: बालीवुड फार्मूले है और न ही वैसे फार्मूले उसमें व बात ड़ाले गये है। फिल्म कार के मन में एक प्रसिद्ध भारतीय लेखिका और उसकी साहित्यिक रचना के प्रति जो आकर्षण था, उसी की अभिव्यक्ति इस फिल्म में हुई है। अपनी साहित्यिकता और कलात्मकता के कारण ही इस फिल्म को कई राष्ट्रीय पुरस्कार मिले है, जिनमें मनोज वाजपेयी को भी अपनी भूमिका के लिए पुरस्कृत किया गया है।

इसमें संगीत उत्तम सिंह का है और इस फिल्म की मुख्य भूमिकाओं में उर्मिला मातोंड़कर, और मनोज वाजपेयी हैं अन्य भूमिकाओं में संजय सूरी, सन्दाली सिन्हां, प्रियाशु चटर्जी, इशा कोप्पिकर, लिलेट दुबे, कुलभूषण खरबंदा, आलोकनाथ, फरीदा जलाल, सीमा विश्वास, दीना पाठक, सुधा शिवपुरी, परवीन बानो, आदि दिखलाई पड़ते है। इस फिल्म के छायावार संतोष का है और इसमें संपादन बालू सलूजा का है। इसमें कोई संदेह नही है कि चन्द्रप्रकाश ने इस फिल्म के निर्माण के लिए सधे हुए कलाकारों और अनुभवी तकनीशियनों को लिया है यही कारण है कि फिल्म अपने माध्यम की मर्यादा का निर्वाह करते हुए भी कृति

की साहित्यिकता को सुरक्षित रखने में सफल रही है। इस फिल्म को कई पुरस्कार मिले है परन्तु इस फिल्म का महत्व उन पुरसकारों के कारण नही है, वरन् उसका महत्व है, एक चर्चित उपन्यास पर फिल्म निर्माण के कारण, जबकि हिन्दी सिनेमा में यह परंपरा लगभग समाप्त हो चली है। एक समय था, जब हिन्दी में चर्चित कृतियों पर अच्छी फिल्मे बना करती थी, पर कलांतर में घोर व्यावसायिकता की होड़ ने सिनेमा में साहित्य को दरकिनार करके उसे हाशिए पर डाल दिया। ऐसे समय 'पिंजर' की परंपरा को पुनर्ज़ीवित करने का एक सार्थक और सधन प्रयास भी करती है। यही इस फिल्म का महत्व है और मूल्य भी। जब कभी हिन्दी सिनेमा में साहित्यिक कृतियों के फिल्मांकनकी चर्चा होगी, इस फिल्म को नजरअंदाज नही किया जा सकेगा। यह इस फिल्म की एक पहचान भी है और ताकत भी।

**खामोश पानी**

खामोश पानी एक हिन्दू औरत की कहानी है, जिसे बंटवारे ने ऐसे घाव दिये कि वह हमेशा हमेशा के लिए अपनी पहचान खो बैठी। एक अर्थ में जहाँ **'पिंजर'** की कहानी खत्म होती है, **'खामोश पानी'** की कहानी वहाँ से शुरू होती है। दोनों फिल्मों के केंद्र में स्त्री की विडंबना है। **'पिंजर'** में जब पूरो, राशिद के यहॉ से वापस लौटती है तो

उसके माता-पिता ही उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं होते। विभाजन के समय वे औरतें जो दूसरे धर्म वाले के चंगुल में फॅंसकर गॅंवा बैठी थी, उनको उनके परिवार वालों ने या तो मरने के लिए छोड़ दिया या खुद ही उन्हें मार दिया जाता था  अपने परिवार के सम्मान की रक्षा के लिए ऐसा हिंदुओं ने भी किया, मुसलमानों ने भी। अपने ही घर-परिवार वालों द्वारा त्यागी गयी इन औरतों के सामने यही रास्ता बचा था कि या तो वे खुदखुशी कर अपनी जान दे दें या उन लोगों के घरों में ही पनाह लें जिनके हाथों वे अपमानित हुई थीं।

खामोश पानी की कहानी भी ऐसी ही एक सिक्ख स्त्री वीरों (किरण खेर) की कहानी है जो 1947 में विभाजन के दौरान अपने ही घर-परिवार के लोगों के द्वारा पीछे छोड़ दी गयी। वीरों ने खुदखुशी करने के बजाय एक मुसलमान युवक अफ़सान का हाथ पकड़ना बेहतर समझा। यही वीरों इस फिल्म में आयशा के रूप में हमारे सामने आती है। खामोश पानी सीधे तौर पर विभाजन की कहानी नहीं है लेकिन वीरों बनाम आयशा के जीवन की विडंबना को विभाजन की ही पृष्ठभूमि में समझा जा सकताहै।

खामोश पानी की कहानी 1979 की है, विभाजन के 22 साल बाद की अब वीरो आयशा बन चुकी है। विभाजन के घाव के निशान अब मिटने लगे हैं और आयशा होने में ही उसने अपनी नियत स्वीकार कर ली है। यह वह समय है जब पाकिस्तान में सैनिक शासन था और जियाउल हक पाकिस्तान के शासनाध्यक्ष थे। जियाउल हक ने लोकतांत्रिक ढ़ंग से चुनी हुई जुल्फीकार अली भुट्टो की सरकार को अपदस्थ कर सत्ता हथियायी थी। जुल्फीकार अली भुट्टो पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें फॉसी दे दी गयी।

1979 के समय अफगानिस्तान में सोवियत सेनायें वहॉ के कम्युनिस्ट शासकों की मदद के लिए आयी हुई थीं। अफगानिस्तान से कम्युनिस्ट शासन को समाप्त करने और सोवियत सेनाओं के लिए मुश्किलें खड़ी करने के लिए अमेरिका वहॉ के कबीलों और मुस्लिम तत्ववादियों को हर तरह की मदद कर रहा था। अमेरिकी मदद पाकिस्तानी शासन के माध्यम से मुहैया करायी जा रही थी। जियाउल हक की ओर से मुस्लिम तत्ववादियों को हर तरह की मदद और बढ़ावा मिल रहा था। पाकिस्तान की युवा पीढ़ी को इस्लाम के नाम पर तत्ववाद के गहरे कुए में ढ़केला जा रहा था। ऐसा इसलिए किया जा रहा था ताकि पाकिस्तान का फौजी शासन इन युवाओं का इस्तेमाल इस्लाम की रक्षा के नाम पर अफगानिस्तान में सोवियत सेना के खिलाफ लड़ाई में कर सके। खामोश पानी पर विचार करते हुए इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना जरूरी होगा।

यह आयशा नाम की एक मुस्लिम औरत की कहानी है जिसके पति का देहांत हो गया है और पाकिस्तान के चरखी नाम के गॉव में रहती है। यह वही गॉव है जहॉ की वह रहने वाली थी और उसके परिवार वाले उसे छोड़ गये थे। अब भी उस गॉव में एक

गुरूद्वारा है जहॉ हिंदुस्तान से आने वाले सिक्ख तीर्थ यात्रियों के लिए भी खोल दिया गया है। वह अपने परिवार का पालन-पोषण अपने पति की पेंशन और बच्चों को कुराण पढ़ाकर करती है। उसका 18 वर्ष का सलीम (अमीर अली मलिक) नाम का बेटा जो जुबैदा (शिल्पा शुक्ला) नाम की लड़की से प्रेम करता है।

आयशा के लिए उसका बेटा ही उसके जीवन का आधार है। पड़ोस की लड़की जुबैदा के प्रति उसका प्रेम उसके जीवन का सुख है लेकिन उसकी खुशियॉ उससे एक बार फिर छीन ली जाती हैं। जियाउल  हक के नेतृत्व में कायम सैनिक-शासन अफगानिस्तान में सोवियत सेनाओं से लड़ने के नाम पर मुस्लिम तत्ववादियों को बढ़ावा दे रहा है। ऐसे ही तत्ववादी आयशा के गाँव में भी पहुचते हैं। राशिद और मज़हर रावलपिण्डी से पहुचते हैं। दोनों ने मुल्लाओं की तरह दाढ़ी रखी हुयी है। वे एड़ी से ऊपर की सलवार पहनते हैं। इस तरह वे अपने आप को इस्लाम के सच्चें अनुयायी होने का यकीन दिलाकर गाँव वालो को अपने प्रभाव में लेने की कोशिश करते हैं। उनका मकसद गॉव में इस्लामी कानून को लागू करवाना है और युवकों को इस्लाम के नाम पर एकजुट करना है।

इसी समय भुट्टो को फांसी  दी जाती है। उधर अफगानिस्तान में वहॉ की सरकार के बुलावे पर सोवियत सेनाए अफगानिस्तान पहुचती हैं। अफगानिस्तान में सोवियत सेनाओं के पहुचने का पाकिस्तान में जबर्दस्त विरोध होता है इसे इस्लाम पर आक्रमण के तौर पर लिया जाता है और पाकिस्तान के इस्लामीकरण की जियाउल हक की मुहिम को एक ठोस कारण मिल जाता है। इस्लामी आतंकवाद जिहाद का नारा बुलंद करते हैं। वे युवाओं को भारत और काफिरों को विरूद्ध भड़काते हैं। सलीम

पर इसका ग़हरा असर होता है और वह इन तत्ववादियों के चंगुल में फॅस जाता है।ऐसे ही समय चरखी गॉव में हिंदुस्तान से आने वाले तीर्थयात्रियों का गॉव वाले स्वागत करते हैं, लेकिन तत्ववादी इसे पसंद नहीं करते। इन तत्ववादियों के प्रभाव में बना नया समूह सिक्खों का मज़ाक उड़ाता है।

आयशा ही वीरो थी और वीरो ही अब आयशा है लेकिन वीरो के मुसलमान बन जाने से अतीत पूरी तरह मिटता नहीं है। आयशा होकर भी वह गॉव के कुए से खुद पानी लेने नहीं जाती। और वह गॉव में आने वाले सिक्ख तीर्थ यात्रियों के लिए हर साल गुरूद्वारें में अपनी घर की बनी हुई खाने की चीज़ें भेंजती है लेकिन यही आयशा अपने जीवनयापन के लिए छोटे बच्चों को कुरान की शिक्षा भी देती है। इसतरह एक स्त्री अपने में अपना अतीत और अपना वर्तमान दोनों समेटे हुए है। इस स्त्री के लिए इस बात को सहन करना नामुमकिन है कि उसका बेटा तत्ववादियों के चंगुल में फॅस रहा है। इससे उसकी माँ  आयशा बहुत दुखी और परेशान रहती है। इधर भारत से आये सिक्ख तीर्थयात्रियों में से एक सिक्ख जसवंत (नवतेज जोहर) विभाजन के समय खोई अपनी बहन वीरो को ढूढ़ रहा है। उसे आयशा में अपनी बहन की झलक दिखायी पड़ती है। उसे यह यकीन होने लगता है कि आयशी ही उसकी खोई हुयी बहन वीरो है। खामोश पानी यदि वीरो है तो उसी गॉव में अमीन और शबनम भी हैं जिनकी बेटी मीना को बॅटवारें के समय सिक्ख उठाकर ले गये थे।

इसी तरह यदि गॉव के युवा शहर से आये तत्ववादियों के प्रभाव में आ रहे हैं तो गॉव में महबूब नाम का नाई भी है जो इन तत्ववादियों की सोंच का विरोध करता है। फ़िल्म में महबूब (अरशद महबूब) का चरित्र बहुत प्रभावशाली ढ़ंग से चित्रित

किया गया है। वह सहज ग्रामीण मानसिकता का प्रतिक है जिसके लिए धर्म नहीं बल्कि मानवीय भाईचार सबसे महत्वपूर्ण है। इस फिल्म में सलीम और जुबैदा के चरित्र भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। सलीम ऐसे युवक का प्रतिनिधित्व करता है जिसके लिए जिंदगी का न कोई अर्थ न कोई लक्ष्य, इधर-उधर बेमतलब घूमना और जुबैदा से इश्क लड़ाना ही उसका जीवन है। इस लक्ष्यहीन और सोचहीन मानसिकता के कारण ही सलीम आसानी से तत्ववादियों के चंगुल में फँस जाता है।

इसके विपरित जुबैदा जिंदगी में कुछ बनना चाहती है और आगे पढ़ना चाहती है। वह जिंदगी को अर्थवान बनाना चाहती है लेकिन जियाउल हक का शासन और पाकिस्तान के इस्लामीकरण की मुहिम उनके सपनों को तोड़ देती है। हिंदी के लोकप्रिय सिनेमा के मेलोड्रामायी शैली के विपरित खामोश पानी पाकिस्तान में हो रही राजनीतिक घटनाओं के आम आदमी के जीवन पर पड़ने वाले असर को यथार्थवादी शैली में चित्रित करती है। फिल्म निर्देशक सबिहा समर ने फ़िल्म को न नाटकीय होने दिया है और न ही लाउड। रचनात्मक संयम न सिर्फ निर्देशन में है बल्कि फ़िल्म की केंद्रीय चरित्र आयशा की भूमिका को निभाने वाली अभिनेत्री किरण खेर में है।

भारतीय दर्शकों के लिए खामोश पानी कई तरह के भ्रमों को तोड़ती है। यह फ़िल्म बताती है कि धर्म के नाम पर विभाजन के बावजूद पाकिस्तान के इस्लामीकरण की कोशिश खुद पाकिस्तान और वहॉ के आम आदमी के हितों के विरूद्ध है। 1979 की घटनाओं की पृष्ठभूमि में इस्लामीकरण की कोशिशों से आयशा उर्फ वीरो भयभीत होती है तो इसलिए नहीं कि वह मूलतः सिक्ख औरत है बल्कि इसलिए कि उसे एक बार फिर उसी त्रासदी के दोहराये जाने का डर सता रहा है जिससे कि वह 22 साल

पहले गुजरी थी। पहली बार उसे अपने माता-पिता और भाई-बहनों से अलग होना पड़ा था। इस बार मुमकिन है कि उससे उसका अपना इकलौता बेटा छीन जाये। यह एक वास्तविक डर है। अतीत एक बार फिर भविष्य बनकर उसके सामने खड़ा है। 1980 के दशकों में पाकिस्तान इस्लामीकरण की कोशिशों का ही नतीजा है कि आज वह देश धार्मिक तत्ववाद से पैंदा हुए आतंकवाद के गिरफ्त में है। कीमत पाकिस्तान के लोगों को इस रूप में चुकानी पड़ रही है कि पाकिस्तान बनने के बावजूद जिस मिली-जुली संस्कृति को नेस्तनाबूत नहीं किया जा सका था, उसे इस्लामीकरण की मुहिम खत्म कर रही है।

**मूल्यांकन-**

पाकिस्तानी फिल्मकार सबिहा समर की 'खामोश पानी'। इसमें किरण खेर की संवदेनशील केंद्रीय भूमिका है और मदनगोपाल का संगीत और छोटी सी भूमिका भी है। भारत-पाकिस्तान के विभाजन की त्रासदी के कई सिनेमाई रूप सामने आ चुके हैं पर 'गदर' सरीखी सतही फ़िल्म जब इस अतिसंवेदनशील कथानक को भ्रष्ट कर देती है तो किसी खामोश पानी की सख्त ज़रूरत महसूस होती है। इस फ़िल्म में किरण खेर अपने 18 साल के लड़के सलीम को धीरे-धीरे बड़ा होते देख रही है। पूरा जीवन उसने लड़ाई लड़ी है। शायद अब सुख देखने को मिले। वह किशोरियों को कुरान पढ़ाती है पर, उसका बेटा कट्टरपंथियों को जुझारू सबक सिख रहा है और जब उसे यह पता चलता है कि मेंरी माँ  मुसलमान नहीं है, सिक्ख परिवार की है तो अचानक उसकी दुनिया बदल जाती है लेकिन आयशा की दुनिया तो बहुत बुरी तरह से बदल गयी। विभाजन के समय में वह लड़की अपने रिश्तेदारों के दबाव में भी कुए में कूदने के लिए

तैयार नहीं हुयी थी। उसने एक लंबी और कठिन लड़ाई का रास्ता चुनाथा पर अधेड़ उम्र में एक अंधा कुआॅ उसे फिर बुलाने लगता है। वह अपने गॉव वालों की पराई हो चुकी है। उसका बेटा उसके खिलाफ है। 'खामोश पानी' की किस आवाज़ को सुने और समझे ?।

# उपसंहार

भारत एक ऐसा देश है जहां विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोग सदियों से साथ-साथ रहते आए हैं। जिनमें हिंदू,मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि शामिल है। हमारी संस्कृति की विशेषता रही है कि जो यहां आया वो यहीं का होकर रह गया, इसीलिए इसे गंगा-जमुनी संस्कृति का देश कहा जाता है।

1947 में हुआ भारत का विभाजन इस संस्कृति पर सबसे बड़ा आघात था। इसके बाद दूसरा आघात 1992 में बाबरी मस्जिद के विध्वंस के रूप लगा। इस विध्वंस ने समय के काल में दबी हुई चिंगारी को फिर से हवा दे दी। विध्वंस से साम्प्रदायिक दंगों का लंबा सिलसिला शुरू हुआ। जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप कश्मीर में पनपा आतंकवाद धीरे -धीरे पूरे भारतीय भूखंड में फैल गया जिसने भारतीय संस्कृति की अस्मिता पर गहरी चोट की

15 अगस्त 1947 को रात बारह बजे जब भारत अंग्रेजी दासता से मुक्त हो रहा था, ठीक उसी समय देश के दो टुकड़े किए जा रहे थे मुस्लिम बहुल पाकिस्तान तथा हिंदू बहुल हिंदुस्तान। ये विभाजन की कहानी मात्र कागजों तक सीमित नहीं रही। भारत से मुसलमानों का पलायन तथा पाकिस्तान से सिखों तथा हिंदुओं का बड़ी संख्या में पलायन शुरू हुआ।

दोनों भागो में बड़े पैमाने पर दंगे हुए जिसमें लाखों लोग मारे गए। यह विश्व इतिहास की सबसे बड़ी त्रासदी तथा पलायन की घटना मानी जाती है। दोनों ओर से विस्थापित और बेघर होने वाले लोगों की संख्या डेढ़ करोड़ थी। हजारों की संख्या में स्त्रियां बेइज्जत की गयीं। सैकड़ों ने अपनी इज्जत बचाने के लिए खुदखशी कर ली, तो कइयों को खुद उनके घर वालों ने मार डाला। यह भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास का सबसे कलंकित अध्याय माना जा सकता है।

विभाजन की त्रासदी पर कई कहानियां तथा उपन्यास, कविता, नाटक लिखे गए थे। लेकिन भारतीय हिंदी सिनेमा में विभाजन के कई वर्षो के बाद भी कोई गंभीर काम नहीं किया गया है।

विभाजन के कई वर्षो बाद 1973 में एम.एस सथ्यू ने फिल्म 'गरम हवा' बनायी जिसमे इस त्रासदी को मानवीय धरातल पर प्रस्तुत किया। ये फिल्म मानवीय भावनाओं के साथ-साथ सामाजिक सरोकारों तथा तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य का भी विश्लेषण करती चलती है।

1980 के बाद हिंदी फिल्मों में सम्प्रदायिकता का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण ढंग से पेश किया जाने लगा था। ऐसा दोनों तरह की फिल्मों में हो रहा था।कलात्मक और यथार्थवादी फिल्में बनाने वाले फिल्मकार ऐसी फिल्में बना रहे थे और वे फिल्मकार भी जो सिनेमा को सिर्फ मनोरंजन का माध्यम मानते हैं। ये दशक कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है इसमें भारी राजनीतिक परिवर्तन हुआ।

इस शोध प्रबंध में **प्रथम अध्याय** में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संदर्भों को उठाया गया है और उस पर चर्चा की गयी है। 15 अगस्त 1947 को भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का अंत हो गया तथा भारतीय स्वतंत्रता का आरंभ हुआ। 14-15 अगस्त की मध्य रात्रि को संविधान सभा का एक विशेष समारोह हो रहा था जिसमें पंडित नेहरू एक भावपूर्व ऐतिहासिक भाषण दे रहे थे जिसमे वे भारत के 'दुर्भाग्य का अंत' होने की घोषणा कर रहे थे ठीक उस समय बड़े पैमाने पर दंगे भड़क उठे थे जो संभाले नहीं संभल रहे थे लाखो लोग मारे जा रहे थे। और बड़ी संख्या में पलायन हो रहा था। देश की स्वतंत्रता का सौगात हमें इस तरह मिल रहा था।

हिंदी सिनेमा में 1950 के दशक को सांस्कृतिक संदर्भ में देखें तो उस समय फिल्मों में नायकत्व सशक्त होने लगा था। भारतीय समाज सदा से नायक की तलाश में रहा है। ऐसा नायक जो सबके लिए बात करे, सबके लिए लड़े, सबको संबोधित करे। इस दशक में सरकार के अंदर ही अनेक नायक थे जो आजादी की लड़ाई से उभरे थे। महत्मा जी का दौर बीत चुका था। पंडित नेहरू का दौर चल रहा था। नेहरू को फिल्मों से प्रेम था। उनके समय सरकार ने फिल्मों के विकास के लिए कई तरह से प्रयास शुरू किए, इससे फिल्मों में नायकत्व को बल मिला। फिल्में अपनी बातों को साफ-साफ ढंग से रखने लगीं। फिल्मों ने गरीबी, जातिवाद, सम्प्रदायिकता, फासीवाद, हिंसा इत्यादि देश की बड़ी समस्याओं को प्रस्तुत करना शुरू कर दिया था लेकिन विभाजन को लेकर अभी भी फिल्मकारों ने चुप्पी साधी हुई थी।

इस समय जो हिंदी फिल्में बनी उसमें प्रेम व त्याग को अधिक महत्व दिया गया। जैसे चौदहवीं का चांद, पाकीजा, तथा अन्य फिल्मों में अभिजात्यीय रूप बना रहा। हिंदी सिनेमा के फिल्मकारों ने इस दौर में हिंदू-मुस्लिम के संबंधों पर राजनैतिक, सांस्कृतिक रूप से गहराई से नजर नहीं डाला। 1990 के बाद फिल्मकारों ने इस तरह के संवेदनशील विषयों का उठाने का जोखिम उठाया।

भीष्म साहनी के उपन्यास पर आधारित फिल्म 'तमस' को निर्देशक गोविंद निहलानी ने 1987 में उठाया। यह पूरी तरह से विभाजन पर केन्द्रित फिल्म है। विभाजन के उस संवेदनशील माहौल में समाज के कुछ अराजक तत्वो द्वारा एक गरीब दलित के हाथों से सुअर को मरवा कर मस्जिद के सामने फेकवा देते है।जिस समय देश का बंटवारा धार्मिक आधार पर हो रहा था, वहां पर इस तरह कि संवेदनशील घटना होने पर हिंदू, मुस्लिम तथा सिखों मे एक सांप्रदायिक तनाव व्याप्त हो जाता है। किसी ने इस घटना से ये अशंका व्यक्त की अब इस

शहर पर चील-कौए मड़राऐंगे और ये कही बात सच हो जाती है। पूरे शहर में साम्प्रदायिक माहौल व्याप्त हो जाता है। और इसका रूप बड़ा वीभत्स  हो जाता है।

हिन्दी सिनेमा में विभाजन की त्रासदी तथा हिंदू-मुस्लिम के संबंधों पर एक और महत्वपूर्ण फिल्म बनी 'पिंजर' यह भी फिल्म पंजाब की विख्यात लेखिका अमृता प्रीतम के उपन्यास पर बनी है। इस का विषय भी विभाजन के दौरान घटी घटनाएं है। फिल्म में एक मुस्लिम परिवार द्वारा एक सिख परिवार की लड़की को उठाकर उसका एक मुस्लिम लड़के से विवाह कर दिया जाता है। इस कहानी के पृष्ठभूमि में विभाजन की त्रासदी भी दिखाई देती है। हिंदू-मुस्लिम के दिलों में भय व्याप्त है। चारों तरफ साम्प्रदायिक माहौल बिगड़ा हुआ है।

विभाजन पर ही एक अन्य महत्वपूर्ण फिल्म 'खामोश पानी' है।  इस फिल्म में भी केन्द्र में स्त्री की विडम्बना है। कैसे एक हिन्दू स्त्री दूसरे धर्म  (मुस्लिम) के लोगों के चंगुल में फंस जाती है और उसका अंत मे भी वही  हाल होता है  जो कि उसने अपने जीवन के आरंम्भ में मना कर दिया था, परिस्थितियां कुछ ऐसी बनती है जिससे कारण उसको खुदखुशी करनी पड़ती है।

सिनेमा का मात्र उद्देश्य सतही मनोरंजन नहीं है। उसका समाज के प्रति उत्तरदायित्व भी होता है। सिनेमा को मनोरंजन तक सीमित करके उसको उसके लक्ष्य तक न पहुचने देने में सरकार तथा पूंजीपती  दोनों का  हाथ रहा है। गंभीर फिल्मकार गंभीरविषय को उठा नहीं पाते है क्योंकि उन पर बाजार का दबाव है। सेंसर बोर्ड की  भी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष भूमिका रहती है। लेकिन इस व्यवस्था में दर्शक का क्या दोष है? अंत में ठगा वही जाता है। संवेदनशील विषयो को कुछ गिनती के फिल्मकारों ने उठाया और सराहनीय काम  किया।हम  आशा करते

है कि आने वाले समय में विभाजन की त्रासदी एवं हिन्दू मुस्लिम संबंधो पर सूक्ष्म और समग्र ढंग से विश्लेषण,अध्ययन करके कालजयी फिल्मों का निर्माण हो।

## संदर्भ-ग्रंथ सूची


जवरीमल पारक. (2006). *हिन्दी सिनेमा का समाजशास्त्र .* न्यू दिल्ली : शिल्पी प्रकाशन.

जवरीमल पारक. (2012). *साझा संस्कृति सांप्रदायिक आतंकवाद और हिन्दी सिनेमा.* न्यू दिल्ली : वाणी प्रकाशन .

डॉ बसवराज करवीरप्पा बरेकर. (2010). *उपन्यास कार भीष्म साहनी .* गाजियाबाद : लता साहित्य सदन .

डोमिनिक लापीयर लैरी कालिन्स. (2003). *बारा बजे रात के .* न्यू दिल्ली : राधा पब्लिकेशन.

प्रताप ठाकुर राजेश्वर सक्सेना. (2005). *भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना .* न्यू दिल्ली : वाणी प्रकाशन .

मनमोहन चड्ढा. (1990). *हिन्दी सिनेमा का इतिहास.* न्यू दिल्ली : सचिन प्रकाशन .

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह. (2012). *हिंदुस्तानी सिनेमा के सौ बरस (नया पथ) .*

मृत्युंजय. (2008). *सेनेमा के सौ बरस .* दिल्ली : शिल्पायन.

यशपाल बीएल ग्रोवर. (2003). *आधुनिका भारत का इतिहास एक नवीन मुंल्याकन.* दिल्ली: येश चंद्र एंड कंपनी ली.

विनोद भारद्वाज. (2006). *सिनेमा कल आज कल .* न्यू दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

विपिन चंद्रा. (2002). *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष.* न्यू दिल्ली : हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय .

सुमित सरकार. (2002). *आधुनिका भारत .* न्यू दिल्ली : राजकमल .

**पत्रिकाएँ**

अशोक मिश्र. (सं) *बहुवचन* : हिन्दी सिनेमा के सौ वर्ष. वर्धा: महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय.

ऋत्विक राय. (2010). *सिनेमा विशेषांक लमही.*

कमला प्रसाद. (सं), *वसुधा.* सिनेमा विशेषांक. निराला नगर, भोपाल.

डॉ श्रीकांत सिंह (सं) सिनेमा विशेषांक - 1,2,3. *मीडिया विमर्श.* भोपाल.

मनोज कुमार. (सं) *समागम:* सिनेमा के सौ साल. शिवाजी नगर, भोपाल.

महेंद्र प्रजापति. (सं) *समसामायिक सृजन.* हिन्दी सिनेमा पर केंद्रित.

राजेंद्र यादव. (2 2013). हिन्दी सिनेमा के सौ साल. *हंस.* न्यू दिल्ली: अक्षरा प्रकाशन.

विष्णु नागर. (सं) *शुक्रवार*. फिल्म विशेषांक. नोएडा.

सीमा ओझा. (सं) आजकल : सिनेमा के सौ वर्ष, नई दिल्ली: प्रकाशन विभाग.

ज्ञान रंजन. (सं) युवा सिनेमा अंक *परिकथा.* नई दिल्ली.